



महावीर जयन्ती 2584

जैनविद्या

महाकवि धनपाल विशेषांक

५२५ ५२५

यत्तु चरेषिणु। वउविदुदेवागणुकरेषिणु। विष्णुविमुहमसुहाइचएषिणु। गयमिविलोपम्भीर
 मुषणु। नविमयतुपुणु मुरुहेमगउ। सिधिवदुणु होएविमिह्दिमयेउ। मानविमाणरुवतणुमदि
 वि। रयणलुमुर्लोउममदि। राउणदि वउणुधरधारउ। पुणुइउमासइ सिदुनडारउ। वमिदि
 घराममिदुलुनातिविरइ उंचरिउधणपातेविह्दिउ हिवावीमहिमधिह्दि। पविचितियणियदेउ
 णिवंधिदि। धना॥धकडवंमि। माएसरहाममुप्रवेणा। धणसि विदेविमुएणविरइउमरसइमंनये
 ण। अहो। नोयहो मुयपंच। मिविहाणु। इउउतेचितियसुहणिहाणु। इरयरणणसियपावरेणु
 इहजामातुवइकामधेणु। फलुदेइउहिह्दिउमञ्जलो। धिंतामणिकुवइतेणो। पाइहजामातुव
 इनुवणसेति। अहो। गकहोमुहमोवाणपति। एरणरिदुं। डुभकइ। अदहवेइ। जोउममनइतहोते
 जिदेइणिहाइइजोणियसिरितरेण। मोपुणवंचकिंविउरेण। उववास। करइहोमत्तसहिउ
 कुमणितहोमुहुउहिपुहि। जइनकुइअतरिविगुहोइ। तहोसहहोणिकलुतेजिहोइ। धना॥अइ
 किंवडुवायाविउरेण। इकविचितमहतरिण। आणुमाइताहि। तिकुमंयपगुणंतविण। १० अइउवि

अइउवइदीहर। धि। धणयतहोमिदि। धणयल। उकुमियताएविरसंनुपणा। सावियधुणमिदि
 तदेमुएणतहकिमिणणामुहुयाइ। अणुमाइयवतोयविमुयाणतहोफनेणताइतिपित्तण
 वउउइनविमिवनोयहो। पाइलइधणयतहोधणयदि। इयउइविमिदिधणमिउविइ। वि
 उइउविधकयसिरिमुहवामु। उमविमयकुसविमाणरुवतियणिगुं। विविमिदिमुतयापडुइ
 लुंरयागुलाइदेवानइयइनविमउविकणयतउ। कुउवइमइतहि। उविमाणिदेउ। वाउइनविमु
 यपंच। मिपंचनणिह्दिह्दिउमुआहाण। नण। धना। धणमुह। नपइतहो। पविचितितहअव्यहिय। धणव
 न्तिण। पंचधोपचपया। विरयाणो। धना। उमिधुनधलकृतपंचमी। लविषादत्तस्यमसां।
 मंततापधवर्षी। आसोउसुइ। रमनिवासरधनिशानहो। उलिदियतेरेमा। कुसंनवउ। अ। धना। धण
 धइनवालेसा। धीधुनसे। सरस्वतीगह्दि। वलाकारण। धी। कुइकुदावा। धो। धये। नहारकशसकलकीर्तित
 धइनहारकनुवतकीर्तित। धइनहारकश्री। धानरुधणगुरु। पदे। धानो। मु। निशारनकी। तियतनायं।
 धइनवा। नडातीय। साहलो। सायीलततहि। मुतसापवीरनसायी। वी। लुणदेस्वाट्टयरवता। पायी
 पंचनदे। पुइस्वित। धना। धलगतनेतु। एते। ज्ञानावरणकर्मइयाथे। लियवि। धारत्तै। धा। धा।

जैनविद्या संस्थान
 (INSTITUTE OF JAINOLOGY)
 दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी
 जि० - सवाई माधोपुर, राजस्थान

मुखपृष्ठ चित्र परिचय

मुखपृष्ठ पर प्रकाशित चित्र संस्थान की भविसयत्तकहा की प्राचीनतम पाण्डुलिपि (सं. 1540 वि०) वेष्टन सं. 755 पत्र सं. 115 साइज 12" × 5" के अन्तिम दो पृष्ठों का है जिसका मूलपाठ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(घोर वीरु तव.) यरणु चरेप्पिणु, चउविहु देवागमणु करेप्पिणु ।
विणिणवि सुहमसुहाइं चएप्पिणु, गय सिविलोए सरीरु मुएप्पिणु ।
भविसयत्तु पुणु सुरु हेमंगउ, सिरिवड्डणु होएवि सिद्धिहिं गउ ।
सा भविसाणरूव तणु मेल्लिवि, रयणचूलु सुरलोउ समेल्लिवि ।
राउ गांदिवड्डणु धरधारउ, पुणु हुउ सासइ सिद्धु भडारउ ।
वसिविधरासमि हलुत्तालि, विरइउ एउ चरिउ धणपाले ।
विहिंखंडंहि वावीसहिं संधिहिं, परिचितियणियहोउणिवंधिंहि ।

घत्ता—धक्कड वणिवंसि माएसरहो समुभवेण ।

धणसिरि देविसुएण विरइउ सरसइसंभवेण ॥9॥

अहो लोयहो सुयपंचमिविहाणु, इउ जं तं चितिय सुहणिहाणु ।

दूरयरपणसियपावरेणु, इह जा सा वुच्चइ कामधेणु ।

फलु देइ जहिंछिउ मच्चलोए, चितामणि वुच्चइ तेण लोए ।

इह जा सा वुच्चइ भुवणसंति, अह मोक्खहो सुह सो वाणपंति ।

णारणरिहुं दुक्खइं अरहरेइ, जो जं मग्गइ तहो तं जि देइ ।

णिग्वाहइ जो णियसिरिभरेण, सो पुण्णवंतु किं वित्थरेण ।

उववास करइ जो सत्तसट्ठि, उज्जमणि तहो सुहु तुट्ठि पुट्ठि ।

जइ भज्जइ अंतरि विग्घु होइ, तहो सदहाणि फलु तं जि होइ ।

घत्ता—अहु किं बहु वायावित्थरेण इक्क वि चित्त महंतरिण ।

अणुमोइं ताहि तिहु संपण्ण गुणंतरिण ॥10॥

अइ उरि अइरावइ दीहरच्छि, धणयत्तहो गेहिणि धणयलच्छि ।

उज्जमियताए चिर संजुएण, भाविय धणमित्ति तहे सुएण ।

तह कित्तिसेण णामुज्जयाइं, अणुमोइय वज्जोयरि सुयाए ।

तहो फलेण ताइं तिणिण विजणाइं, चउथइ भवि सिवल्लोयहो गयाइं ।

पहिलइ धणयत्तहो धणयदित्ति, इयरइं विणिणवि धणमित्तु कित्ति ।

विज्जय भवि पंकयसिरि सुरुव, सुउ भविसयत्तु भविसाणरूव ।

तियलिगु हणोवि विणिणवि सुत्तेय, पहु चूलुरयण चूलाइदेव ।

तइयइ भविसत्तु वि कणय तेउ, कुउ दहभइं तहिं जि विमाणि देउ ।

चोत्थइ भवि सुयपंचमि फलेण, णिदड्ड कम्मु भाणणालेण फलेण ।

घत्ता—णिणसुणंतपढंतहं परिचितंतहं अप्पहिय ।

धणवाल्लि तेण, पंचमि पंचपयारकिय ॥11॥ 22

इति धनपालकृत पंचमी भविष्यदत्तस्य समाप्तं

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्धवार्षिक
शोध-पत्रिका

अप्रैल, 1986

सम्पादक

डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी

प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन

सहायक सम्पादक

पं० भंबरलाल पोल्याका

सुधी प्रीति जैन

प्रबन्ध सम्पादक

श्री कपूरचन्द्र पाटनी

सम्पादक मण्डल

श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

श्री विजयचन्द्र जैन

श्री कपूरचन्द्र पाटनी

डॉ० गोपीचन्द्र पाटनी

डॉ० राजमल कासलीवाल

श्री फूलचन्द्र जैन

डॉ० कमलचन्द्र सोगाणी

प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन

प्रकाशक

दि० जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

मुद्रक :

दी कपूर प्रेस

जयपुर-302004

वार्षिक मूल्य :

देश में : तीस रुपये मात्र

विदेशों में : पन्द्रह डालर

महावीर पुरस्कार, 1986

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान (Institute of Jainology) के सन् 1986 के रुपये 5001/ पांच हजार एक के महावीर पुरस्कार हेतु विचारार्थ 1985 से 1987 के मध्य प्रकाशित हिन्दी/अंग्रेजी में लिखित 'भगवान् महावीर' से सम्बन्धित लगभग 300 पृष्ठों की रचनाएं 31 मई, 1987 तक आमन्त्रित हैं।

भगवान् महावीर से सम्बन्धित इस रचना में कम से कम निम्न प्रकरणों पर विवरण अपेक्षित है—

1. दिगम्बर जैन ग्रंथों के आधार पर भगवान् महावीर के पूर्वभवों का वर्णन एवं उनका जीवन-चरित्र।
2. भगवान् महावीर के सिद्धांत एवं उनकी वर्तमान काल में उपयोगिता।
3. भारतवर्ष में उपलब्ध भगवान् महावीर की दिगम्बर मूर्तियों एवं तीर्थों का विवरण (कम से कम सौ वर्ष प्राचीन)।
4. प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध भगवान् महावीर पर मंगलाचरण।
5. भगवान् महावीर पर उपलब्ध दिगम्बर साहित्य की सूची।

नियमावली तथा आवेदनपत्र प्राप्त करने के लिए 2/- दो रुपये का पोस्टल-आर्डर निम्न पते पर आना चाहिए—

डॉ. गोपीचन्द पाटनी

संयोजक

जैनविद्या संस्थान

एस. बी. 10, जवाहरलाल नेहरू मार्ग
बापूनगर, जयपुर 302004

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृ.सं.
	प्रास्ताविक		
	प्रकाशकीय		
	प्रारम्भिक		
1.	महाकवि धनपाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व	डॉ० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल	9
2.	मेंट—कवि धनपाल से	श्री नेमीचन्द पटोरिया	15
3.	भविस को माता की शिक्षा	महाकवि धनपाल	20
4.	कहाकवि धनपाल की काव्य- प्रतिभा	डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'	21
5.	भविस को मुनिराज का उपदेश	महाकवि धनपाल	28
6.	भविसयत्तकहा का साहित्यिक महत्त्व	डॉ० आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	29
7.	दुर्जन : महाकवि धनपाल की दृष्टि में	महाकवि धनपाल	40
8.	भविष्यदत्तकथा-विषयक साहित्य एक अनुशोलन	डॉ० कपूरचन्द जैन	41
9.	अपभ्रंश का शिखर महाकाव्य भविसयत्तकहा	डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव	51
10.	भविसयत्तकहा का भाष-बोध	(डॉ०) प्रो० छोटेलाल शर्मा	57
11.	भविसयत्तकहा का कथारूप	डॉ० गदाधरसिंह	73
12.	भविसयत्तकहा का धार्मिक परिवेश	श्री श्रीयाश सिधई	79

13.	भविष्यत्तकहा में नीतितत्त्व	डॉ० गंगाराम गर्ग	87
14.	भविष्यत्तकहा में युग और समाज के सन्दर्भ	डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	93
15.	महाकवि धनपाल की कुछ उक्तियाँ	महाकवि धनपाल	98
16.	भविष्यत्तकहा में जीवन का प्रतिबिम्ब	डॉ० गजानन नरसिंह साठे	99
17.	भविष्यत्तकहा की संस्थान में प्राप्त पांडुलिपियों की प्रशस्तियाँ	पं० भंवरलाल पोत्याका	107
18.	श्रावक के अष्ट मूलगुण	महाकवि धनपाल	110
19.	पुराण सूक्तिकोष	—	111
20.	समाधि	मुनि चरित्तसेणु अनु०—पं० भंवरलाल पोत्याका	123
21.	साहित्य समीक्षा		132
22.	पुष्पदन्त विशेषांक विद्वानों की दृष्टि में		133
23.	इस अंक के सहयोगी रचनाकार		140

प्रास्ताविक

अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन युग में एक अत्यन्त सक्षम भाषा रही है जिसके माध्यम से उस युग में अनेक विषयों पर अभूत्य साहित्य का निर्माण हुआ। भाषा की समता नदी के प्रवाह से की जाती है जो वास्तव में सत्य है। वह परिवर्तनशील है, यद्यपि परिवर्तन की गति प्रतिक्षण होते हुए भी साधारणतः इतनी मंद और धीमी होती है कि वह शीघ्र ही देखने में नहीं आ सकती। करीब 2600 वर्ष पूर्व जब पुरोहितों/पंडितों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से धर्म एवं दर्शन के स्वरूप पर अपना अधिकार जमा लिया और सामान्य जन उससे अलग होता गया, तब संस्कृत भाषा जन-साधारण की भाषा न रहकर केवल शिष्टों की भाषा बन गयी। शिष्टजन जो कुछ बोलते थे उसे जन-साधारण समझ नहीं पाता था बल्कि उसे मौन रहकर सुन लेता था। भगवान् महावीर एवं महात्मा बुद्ध ने इस स्थिति का आकलन किया और इसीलिए उन्होंने अपने उपदेश उस समय की जन-साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत (अर्द्ध मागधी) एवं पालि में दिये।

अपभ्रंश भाषा का आद्यकाल काफी प्राचीन है, यहाँ तक कि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भी "अपभ्रंश" तथा प्राकृत-ग्रंथों में अवभंस, अवहंस, अवहृत्थ आदि नाम मिलते हैं। अवभंस और अवहंस शब्द अपभ्रंश के ही तद्भव रूप हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण जैसे कुछ ग्रंथों में "अपभ्रष्ट" शब्द का भी व्यवहार किया गया है। व्याकरणों ने संस्कृत से इतर भाषा अथवा बोली के लिए प्राकृत और अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किया। अपभ्रंश शब्द का प्रयोग संग्रहकार व्याडि ने भी, जो दूसरी शताब्दी ई० पूर्व में हुए हैं, किया है, भर्तृहरि ने अपने 'वाक्यपदीयम्' की वृत्ति में इसका प्रयोग किया है। पतञ्जलि के महाभाष्य में भी इसका प्रयोग हुआ है। इस प्रकार जो अपभ्रंश शब्द ईसा से दो सौ-तीन सौ वर्ष पूर्व संस्कृत से इतर शब्द अर्थात् अपाणिनीय शब्द के लिए प्रयुक्त होता था वही ईसा की छठी शताब्दी तक आते-आते एक सक्षम जनभाषा एवं साहित्यिक भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा के विकास-क्रम में ऐसी अवस्था आती है एवं प्रारम्भिक जनभाषा (देश भाषा) विद्वानों की साहित्यिक भाषा बन जाती है। भाषा शास्त्रियों के अनुसार अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन प्राकृत की अन्तिम और वर्तमान आधुनिक भारतीय भाषाओं की आद्य अवस्थाओं के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इस तरह अपभ्रंश भाषा का युग छठी शताब्दी से प्रारम्भ होकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक तो स्वीकार किया गया ही है। पाण्डे भगवतीदास की एक अपभ्रंश रचना के उपलब्ध हो जाने से यह अबधि किसी न किसी रूप में सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक भी स्वीकार की जा सकती है।

संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश को ही तीसरा स्थान दिया गया है। अपभ्रंश भाषा एक सशक्त देशभाषा स्वीकार की गयी है। यद्यपि कुछ विद्वान् यथा-याकोबी, कीथ आदि ने इसे देशभाषा स्वीकार नहीं किया है परन्तु कई अन्य भाषा-वैज्ञानिकों यथा—पिशेल, ग्रियर्सन, भण्डारकर, वुलनर, चटर्जी आदि ने इसे देशभाषा स्वीकार किया है। छन्दस की आर्य-वाणी “संस्कृत” की तुलना में पाणिनीय संस्कृत भी केवल देशभाषा थी। पाणिनीय संस्कृत जब साहित्यिक भाषा बन गयी तब पालि एवं प्राकृत देशभाषा के रूप में विकसित हुई और इन्हीं भाषाओं में महात्मा बुद्ध एवं भगवान् महावीर ने अपने उपदेश दिये। परन्तु जब प्राकृत भी साहित्यिक भाषा बनने लगी तब अपभ्रंश भाषा का विकास देशभाषा के रूप में हुआ। संस्कृत के विद्वानों ने तो अपभ्रंश को देशभाषा कहा ही, स्वयं अपभ्रंश कवियों यथा—स्वयंभू, पुष्पदन्त ने भी इसे देशभाषा बताया है। कालान्तर में अपभ्रंश भाषा भी देशभाषा से केवल साहित्यिक भाषा बन गयी एवं जनता से दूर हटती गयी और जैसाकि ऊपर कहा गया है, तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ। शौरसेनी/नागर अपभ्रंश से गुजराती एवं प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी) का, पँशाची अपभ्रंश से लहंदा और पंजाबी का, ब्राह्मण अपभ्रंश से सिंधी का, महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का, अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का और मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, उड़िया और आसामी भाषाओं का विकास हुआ है। प्रारम्भ में इन भाषाओं में बहुत कम भिन्नता थी किन्तु समय के साथ-साथ रहन-सहन, प्रान्तीयता, संस्कृति तथा राजनैतिक कारणों से ये भाषाएँ एक दूसरी से दूर होती गईं।

जैसाकि पूर्व के अंकों में कहा जा चुका है, अपभ्रंश साहित्य अत्यन्त विशाल रहा है, इसकी हजारों की संख्या में पाण्डुलिपियां हैं जिनमें से अधिकांश जैन शास्त्र भण्डारों एवं मन्दिरों में उपलब्ध हैं। इनमें अधिकांश अप्रकाशित हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन के द्वारा अपनी “हिन्दी काव्यधारा” में जब महाकवि स्वयंभू एवं अपभ्रंश का उल्लेख किया गया तब विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश भाषा, उसके साहित्य एवं साहित्यकारों के अध्ययन की ओर गया। स्वयंभू एवं पुष्पदन्त के पश्चात् घनपाल (10वीं शताब्दी) अपभ्रंश भाषा का एक महान् कवि हुआ है जिसकी मुख्य रचना “भविसयत्तकहा” (भविष्यदत्त कथा) है। वास्तव में अपभ्रंश साहित्य की सामग्री का पहला संग्रह “माटेरियालियन त्सूर कॅंटनिस डेस अपभ्रंश” आज से लगभग 84 वर्ष पूर्व सन् 1902 ई. में जर्मन विद्वान् पिशेल ने प्रकाशित कर भारतीय एवं यूरोपीय विद्वानों के अपभ्रंश अध्ययन के लिए प्रस्तुत किया। जर्मनी के ही एक दूसरे विद्वान् याकोबी ने सन् 1918 ई. में घनपाल के “भविसयत्तकहा” का सम्पादन किया जिससे विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश साहित्य के सौन्दर्य और गौरव की ओर आकर्षित हुआ। याकोबी सन् 1914 में अहमदाबाद आये जहां उन्हें पन्यासश्री गुलाबविजय ने कई पाण्डुलिपियां दिखाई जिनमें “भविसयत्तकहा” की पाण्डुलिपि भी थी। याकोबी ने इसकी प्रतिलिपि करायी एवं चार वर्ष पश्चात् इसका सम्पादन पूर्ण किया। बड़ीदा सेन्ट्रल लायब्रेरी के श्री सी. डी. दलाल

प्रथम भारतीय विद्वान् थे जिन्होंने इस कृति की और ध्यान दिया। उन्हें इस कृति की एक पाण्डुलिपि पाटण में मिली और उन्होंने इसके सम्पादन का कार्य "गायकवाड़ एोरियण्टल सीरीज" के अन्तर्गत आरम्भ किया परन्तु उनके निधन के कारण यह कार्य १९२३ में डॉ. पाण्डुरंग दामोदर गुणे, पुणे द्वारा सम्पन्न किया गया। "भविसयत्तकहा" दिगम्बर जैन परम्परा का एक बड़ा प्रबन्ध काव्य है। धनपाल (अपभ्रंश-धनवाल) स्वयं ने अपनी इस रचना की अन्तिम बाईसवीं सन्धि के नवें कड़वक के घत्ता में अपना परिचय देते हुए कहा है—

धक्कड़वणिवंसे माएसरहो समुभवरिण ।
धनसिरिहोवि सुएण विरइउ सरसइसंभवरिण ॥

इससे ज्ञात होता है कि धनपाल "धनसिरि" नगर के एक धक्कड़ वाणिज्यिक परिवार में पैदा हुए थे। याकोबी ने "भज्जिवि जेण दियंबरि लाइउ" के आधार पर यह सिद्ध किया है कि धनपाल दिगम्बर जैन थे। हेमचन्द्र सम्राट् कुमारपाल के समय में बारहवीं शताब्दी में हुए हैं। इनकी एवं धनपाल की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि धनपाल ईसा की १०वीं शताब्दी में हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा के विशाल और महत्त्वपूर्ण परन्तु अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्य को प्रकाश में लाने की दृष्टि से "जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी" ने भी अपना योगदान देने का निश्चय किया एवं अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के साथ-साथ अपनी शोध पत्रिका "जैनविद्या" के प्रथम तीन अंकों के माध्यम से स्वयंभू एवं पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश के महान् कवियों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की परिचय सामग्री प्रकाशित की है। अपभ्रंश के अन्य महाकवि धनपाल के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के बारे में परिचय देने हेतु यह चौथा अंक "धनपाल विशेषांक" पाठकों के हाथों में है। इस कार्य में पूर्व की भांति अमूल्य सहयोग देने के लिए संस्थान समिति अपने ही सदस्य डॉ. कमलचन्द सोगारणी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, सुखाडिया विश्वविद्यालय, उदयपुर के प्रति हार्दिक धन्यवाद अर्पित करती है। साथ में जिन-जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएँ भेजकर एवं निदेशक-सम्पादक, सहायक सम्पादकों व अन्य सहयोगियों ने जो सहयोग प्रदान किया है उन सब के प्रति भी संस्थान समिति अत्यन्त आभारी है।

डॉ. गोपीचन्द पाटनी
संयोजक—जैनविद्या संस्थान समिति एवं
सम्पादक "जैनविद्या"

प्रकाशकीय

“जैनविद्या” पत्रिका के अब तक तीन अंक प्रकाशित होकर पाठकों के पास पहुंच चुके हैं। इनमें से प्रथम अंक महाकवि स्वयंभू पर एवं द्वितीय तथा तृतीय अंक महाकवि पुष्पदन्त पर थे। इन तीनों ही अंकों में अपभ्रंश भाषा के उक्त महाकवियों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर विभिन्न आयामों/दृष्टिकोणों से अपने अपने विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा शोध-सोज पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया था अतः ये अंक सामान्य न होकर विशेषांक थे। इन विशेषांकों का जो स्वागत-सत्कार विद्वत्समाज एवं प्रबुद्ध जनता द्वारा हुआ उसने हमारे उत्साह को बढ़ाया है। उसी से प्रेरित होकर पत्रिका का यह चतुर्थ अंक भी अपभ्रंश के ही एक अन्य महाकवि “भविसयत्तकहा” के रचनाकार घनपाल धक्कड़ पर पूर्व प्रकाशित विशेषांकों की शृंखला में एक अन्य कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमारा हृदय प्रोत्फुल्ल है।

भारतीय विद्याओं में जैनविद्या का अपना एक महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। बिना इसके अध्ययन मनन के भारतीय दर्शन, इतिहास, धर्म, संस्कृति, लोकजीवन आदि का ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। वह अघूरा/अपूर्ण ही रहेगा। भारतीय विद्या के अध्येताओं के लिए जैनविद्या का अध्ययन एवं परिज्ञान अपरिहार्य है। जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी इस आवश्यकता की पूर्ति हेतु कृतसंकल्प होकर आगे बढ़ रहा है। “जैनविद्या” पत्रिका का प्रकाशन इस दिशा की ओर उसका एक कदम है। हमें हमारे साधनों की सीमा एवं कार्यक्षेत्र की विशालता का ज्ञान है किन्तु हमारे सहयोगियों का उत्साह अपने कर्तव्य के प्रति उनकी निष्ठा, लगन और कार्यक्षमता पर हमें पूरा विश्वास है जिसके बल पर हम आश्वस्त हैं कि हम हमारे गन्तव्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहेंगे, साधनों की सीमितता हमारे पथ का रोड़ा नहीं बनेगी, कार्यक्षेत्र की विशालता हमारे डगों को लड़खड़ायागी नहीं अपितु प्रतिपल हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी।

किसी भी विद्या का अध्ययन बिना उसके साहित्य का अध्ययन किये सम्भव नहीं। साहित्य के अध्ययन के लिए उस भाषा का ज्ञान आवश्यक है जिसमें वह निबद्ध है। भाषा का रूप स्थायी नहीं होता। वह मानवशरीर की भांति पल-प्रतिपल परिवर्तनशील होता है। यह बात अलग है कि परिवर्तन की यह गति इतनी मंद होती है कि हमें इसका अनुभव नहीं होता। जीवन में कब बचपन बीता और जबानी आई एवं कब जबानी बीत कर

बुढ़ापा आ गया इसका पता ही नहीं चलता । जीवन के इन तीनों रूपों की कोई निश्चित सीमारेखा नहीं खँची जा सकती केवल स्थूलरूप से ही उनका अनुभव किया जा सकता है । जीवन के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए बचपन, जवानी और बुढ़ापा इन तीनों अवस्थाओं का अध्ययन जरूरी है । भाषा के सम्बन्ध में भी यही बात है । भाषा-शास्त्र के अध्येताओं के लिए उसके विभिन्न रूपों/परिवर्तनों का अध्ययन एक अपरिहार्य आवश्यकता है, उसके बिना उनका भाषाशास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण रहेगा, अधूरा रहेगा । इससे अपभ्रंश भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है ।

अपभ्रंश भाषा की खोज का इतिहास नौ दशक से अधिक प्राचीन नहीं है । इसके विभिन्न अंगों, विशेषताओं, ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक महत्त्व आदि की दृष्टि से इसके मूल्यांकन का प्रारम्भ तो इससे भी तीन-चार दशक पश्चात् हुआ । ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया इस भाषा की रचनाएं प्रकाश में आती गईं । फलतः विद्वानों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ । आज कई संस्थाएं एवं विद्वान् इस क्षेत्र में कार्यरत हैं किन्तु उनमें आवश्यक तालमेल के अभाव में जितने परिमाण में कार्य होना चाहिए उतना नहीं हुआ या हो पा रहा । जो कुछ कार्य अब तक हुआ है उसमें भी पर्याप्त अंशों में एक ही विषय-वस्तु की एक-धिक बार पुनरावृत्ति भी हुई है । संस्थान इधर भी सचेष्ट है । वह इस क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं और विद्वानों में सामंजस्य बैठाने के लिए प्रयत्नशील है ।

जिन विद्वानों ने अपनी कृतियाँ भेजने का अनुग्रह किया है हम उनके आभारी हैं । साथ में पत्रिका के सम्पादक डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी (संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति) एवं प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन (मानद निदेशक, जैनविद्या संस्थान), सहायक सम्पादक—श्री भंवरलाल पोल्याका एवं सुश्री प्रीति जैन आदि सम्पादन व प्रकाशन कार्य में प्रदत्त सहयोग के लिए धन्यवाद के पात्र हैं । दी कपूर प्रेस के प्रोप्राइटर एवं उनके सहयोगी भी अच्छे कलात्मक मुद्रण हेतु धन्यवादार्ह हैं ।

कपूरचन्द्र पाटनी
प्रबन्ध-सम्पादक

आरम्भिक

“जैनविद्या” पत्रिका का चतुर्थ क पाठकों के सामने समर्पित है। पत्रिका का प्रत्येक अंक अपभ्रंश भाषा के जाने-माने रचनाकारों के नाम पर उनके कालक्रमानुसार प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार अब तक प्रथम अंक महाकवि स्वयंभू पर एवं द्वितीय-तृतीय अंक महाकवि पुष्पदन्त पर प्रकाशित होकर पाठकों तक पहुँच चुके हैं। विशेषांकों की उसी शृंखला में यह चतुर्थ कड़ी “घनपाल विशेषांक” के रूप में है।

घनपाल के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. पी. डी. गुणे घनपाल की अब तक प्राप्त एक मात्र रचना “भविसयत्त-कहा” की भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से उसमें शिथिलता और अनेकरूपता परिलक्षित कर उसे आचार्य हेमचन्द्र से पूर्व की, उस काल की स्वीकार करते हैं जब अपभ्रंश बोलचाल की भाषा थी। प्रो. भायाणी, डॉ. दलाल, डॉ. हर्मन जेकोबी, डॉ. कोळड़ आदि विद्वान् उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी के लगभग स्वीकार करते हैं। डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने अपने शोध प्रबन्ध “भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथा काव्य” में अपने संग्रह में भविसयत्तकहा को एक पाण्डुलिपि की प्रशस्ति के आधार पर इस रचना को वि. सं. 1393 का स्वीकारा है किन्तु डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य ने “तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा” नामक पुस्तक तथा पं. परमानन्द शास्त्री ने “जैनधर्म का इतिहास : द्वितीय भाग” में उनके इस मत को इस तर्क के आधार पर कि डॉ. शास्त्री द्वारा उद्धृत प्रशस्ति रचनाकार की न होकर लिपिकार की ज्ञात होती है, अस्वीकार कर घनपाल का स्थितिकाल विक्रम की 10वीं शती ही माना है। संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग में “भविसयत्तकहा” की वि. सं. 1540 एवं उसके बाद की प्रतिलिपि की हुई 10 पाण्डुलिपियाँ हैं जिनमें से किसी में भी डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा उल्लिखित कड़वक नहीं है अतः हमने भी बहुसंख्यक विद्वानों की मान्यता को दृष्टि में रखते हुए इस क्रम में यह विशेषांक प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में विशेष निर्णय करना हम विद्वानों पर छोड़ते हैं।

“भविसयत्तकहा” का इस दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है कि एक विदेशी जर्मन विद्वान् हर्मन जेकोबी ने इस भाषा के ग्रंथ की सर्वप्रथम खोज की थी और भारत में भी अपभ्रंश भाषा का यही सर्वप्रथम प्रकाशित ग्रंथ है जिसे प्रकाश में लाने का श्रेय गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज को है। इससे पूर्व विद्वान् अपभ्रंश भाषा के साहित्य से ही परिचित नहीं थे।

भाषाविदों की दृष्टि से ईसा की पांचवी शती से लेकर दसवीं शती तक अपभ्रंश का काल रहा है यद्यपि इसके बाद भी इस भाषा में ग्रंथ रचना होती रही। इससे पूर्व इस देश में प्राकृत एवं संस्कृत भाषा का प्रचार-प्रसार था। वैदिक सूक्तों की छान्दस् भाषा को ही प्रसिद्ध ब्रह्मिणी पाणिनि ने संस्कारित कर संस्कृत भाषा का रूप दिया था। प्राकृत का उद्गम ब्राह्मणों की भाषा प्राच्य्या से हुआ। ये ब्राह्मण वेदों को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते थे और न उनको प्रमाण माननेवालों की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था को

स्वीकारते थे। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इनका वर्णन मिलता है। ये अहिंसा, अस्तेय आदि व्रतों का पालन करने के कारण इस नाम से अभिहित किये जाते थे। वेदों में प्राप्य आर्हत्, चातरशन आदि नाम भी इनके ही थे। भगवान् आदिनाथ से लेकर अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ तथा महावीर इसी परम्परा के थे। इनकी संस्कृति श्रमण नाम से विख्यात थी। ये द्रात्य, आर्हत् अथवा वातरशन ही वर्तमान के जैन हैं। महावीर-काल में होनेवाले गौतम बुद्ध भी इसी श्रमण संस्कृति के थे। इससे यह भलीभांति प्रमाणित होता है कि जैन और बौद्ध जनसाधारण के हितार्थ अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए आदिकाल से ही शास्त्रीय भाषा का सहारा न ले तत्कालीन बोलचाल की प्रचलित लोकभाषा का व्यवहार करते थे और उसी में ग्रंथ रचना भी करते थे यद्यपि आगे चलकर परिस्थितियों ने उन्हें संस्कृत में ग्रंथ-रचना के लिए विवश कर दिया।

व्याकरण के नियमों द्वारा किसी भाषा का रूप स्थिर हो जाने पर वह जनसाधारण के उपयोग की भाषा नहीं रहती, केवल कतिपय शिक्षित समुदाय की भाषा बन कर रह जाती है। संस्कृत और प्राकृत के साथ भी ऐसा ही हुआ। किन्तु भाषा का प्रवाह रुकता नहीं वह सर्वदा गतिमान रहता है और परिणामस्वरूप नये नये भाषारूपों का जन्म होता रहता है। प्राकृत भाषा के शास्त्रीय भाषा बन जाने पर जिस भाषा ने उसका स्थान ग्रहण किया वह थी अपभ्रंश। श्री चन्द्रधर शर्मा "गुलेरी" ने इसे ही पुरानी हिन्दी के नाम से पुकारा है। जूनी गुजराती और पुरानी राजस्थानी इसी के भाषारूपों में से हैं।

डॉ. उदयनारायण तिवाड़ी ने अपनी रचना "हिन्दी भाषा के उद्गम और विकास" में यह सच ही कहा है कि प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है। मुनि जिनविजयजी के अनुसार वर्तमान गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, सिंधी, बंगाली, असमी, उडिया आदि भारत के पश्चिम, उत्तर तथा पूर्वी भागों में बोली जानेवाली देशी भाषाओं की सगी जननी अपभ्रंश भाषा ही है।

डॉ. हीरालाल माहेश्वरी का एक लेख "अपभ्रंश साहित्य और मणिधारी जिनचन्द्रसूरि" शीर्षक से बाबू छोटेला जैन स्मृति ग्रंथ में पृष्ठ 356 पर प्रकाशित हुआ है जिसमें दी गई एक तालिका के अनुसार अब तक प्राप्य अपभ्रंश भाषा के सारे ही महाकाव्य जैन हैं। स्रष्टा काव्यों में भी केवल दो को छोड़कर सारी ही जैन रचनाएं हैं। मुक्तकाव्यों में भी अधिकांश भाग जैनरचनाओं का ही है।

जैन चाहे वे साधु हों अथवा गृहस्थ, साहित्य का निर्माण लौकिक यश अथवा सम्पदा प्राप्ति के लिए नहीं करते। उनका ध्येय होता है आत्मशुद्धि, सामाजिक जागरण एवं लोक मंगल। "साहित्य वह है जो हितकारी हो" साहित्य की इस परिभाषा को वे स्वीकारते थे। केवल लिखने के लिए ही अथवा 'कला कला के लिए है' ऐसा मानकर उन्होंने लिखा ही ऐसा नहीं है।

अपभ्रंश भाषा के इस महत्त्व को देखकर ही संस्थान ने सर्वप्रथम अपभ्रंश भाषा के रचनाकारों पर ही विशेषांक निकालने का निर्णय लिया है ।

प्रस्तुत अंक में कवि धनपाल के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व तथा उसकी काव्य प्रतिभा से पाठकों को परिचित कराने के साथ साथ उसकी रचना के साहित्यिक एवं काव्यात्मक महत्त्व को उजागर किया गया है । उसकी कथा, कथारूप, भावबोध, धार्मिक परिवेश, उसमें नीतितत्त्व, युग और समाज के सन्दर्भ, जीवन में प्रतिबिम्ब आदि विषयों पर अधिकांश विद्वानों द्वारा प्रकाश डाला गया है । इसके अतिरिक्त अपभ्रंश भाषा की एक आध्यात्मिक रचना "समाधि" सानुवाद प्रकाशित की जा रही है ।

प्रमुख पांच जैन पुराणों—हरिवंशपुराण, महापुराण, पाण्डवपुराण, पद्मपुराण एवं वीरवर्धमानपुराण में आगत सूक्तियों का भा संस्थान में एक संकलन तैयार किया गया है जिसका कुछ अंश भी इस अंक में छापा गया है ।

गतांक में हमने यह विशेषांक धनपाल एवं धवल पर निकालने की सूचना दी थी किन्तु धवल से सम्बन्धित केवल एक ही रचना हमें प्राप्त हुई अतः विवश होकर इस अंक को धनपाल तक ही सीमित करना पड़ा । महाकवि धवल का हरिवंशपुराण अब तक ज्ञात एक मात्र रचना है और वह भी अप्रकाशित है इस कारण साधनों के अभाव में विज्ञजन हमें अपनी रचनायें भेजने में असमर्थ रहे । धवल पर विशेषांक अब आगे प्रकाशित होगा । हमने हरिवंशपुराण की फोटो स्टेट प्रतियां कराली हैं जो लेखकों को लेखन में सुविधा प्रदान करने हेतु कुछ दिनों के लिए उनके पास भेजी जा सकती हैं ।

आगामी विशेषांक इसी भाषा के महाकवि वीर पर होगा ।

जिन विद्वान् रचनाकारों ने अपनी रचनाएं प्रेषित कर अथवा अन्य प्रकार से हमें अपना सहयोग दिया है उनके हम कृतज्ञ हैं । संस्थान समिति तथा सम्पादक-मण्डल के सदस्यों, सह-सम्पादकों एवं अपने अन्य सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के प्रति भी उनके द्वारा प्रदत्त परामर्श, सहयोग आदि के लिए आभार प्रकट करते हैं । मुद्रणालय के स्वामी, मैनेजर आदि भी सुसज्ज कलापूर्ण मुद्रण हेतु समानरूप से धन्यवादाहर्ह हैं ।

(प्रो.) प्रवीणचन्द्र जैन
सम्पादक

महाकवि धनपाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—डॉ. जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल



दिगम्बर जैन मत के अनुयायी धनपाल धक्कड़ वंश्य थे। उनके पिता का नाम मातेश्वर और माता का नाम धनश्री था। धनपाल का विशेष परिचय नहीं मिलता। उनका स्थितिकाल त्रिवादास्पद है। धनपाल नाम के चार लेखक हुए हैं जिनमें दो संस्कृत के और दो अपभ्रंश के हैं। संस्कृत के गद्यकाव्यकार धनपाल का समय 1000 ई. है और उनकी 'तिलकमंजरी' पर बाणभट्ट की कादम्बरी का प्रभाव स्पष्ट है।¹ अपभ्रंश के एक कवि धनपाल ने 'बाहुबलि-चरित' की रचना की है।² धक्कड़ वंश के कवि हरिषेण ने वि. सं. 1044 में 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ की रचना की। दिलवाड़ा के वि. सं. 1287 के तेजपाल के शिलालेख में धर्कट जाति का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक धक्कड़ वंश प्रसिद्ध रहा है। हमारे प्रतिपाद्य कवि धनपाल की एकमात्र अपभ्रंश रचना 'भविसयत्तकहा' है। इस काव्यग्रन्थ में धनपाल की अन्य किसी रचना के लिखे जाने का उल्लेख नहीं है। कहा जाता है कि धनपाल को सरस्वती का वरदान प्राप्त था।

स्थितिकाल—राहुल सांकृत्यायन ने प्राचीन कवियों की रचनाओं का संकलन 'काव्यधारा' नाम से किया है। इसमें धनपाल का समय 10वीं शती माना है। उन्होंने इनकी भाषा को 'पुरानी हिन्दी' माना है। श्री मोतीलाल मैनारिया ने जैन कवि धनपाल का समय

सं. 1081 माना है। उन्होंने इन्हें पुरानी राजस्थानी का कवि माना है। यद्यपि इनकी भाषा प्रायः साहित्यिक अपभ्रंश ही है, किन्तु हिन्दी साहित्य के आदिकाल की परम्परा को समझने में इनके ग्रंथ का अपूर्व योगदान है। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने दसवीं से तेरहवीं शती के मध्य घनपाल का स्थितिकाल संभावित माना है। 'भविसयत्तकहा' की भाषा की तुलना करते हुए डॉ० हर्मन जंकोबी का अनुमान है कि घनपाल दसवीं शती में रहे होंगे। घनपाल के 'भविसयत्तकहा' पर बारहवीं शती के विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का प्रभाव लक्षित करके डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री घनपाल को चौदहवीं शती में विद्यमान होना उचित मानते हैं। इतिहास के आलोक में इस ग्रंथ से जो तथ्य प्राप्त होते हैं उनसे यह काल उचित प्रतीत होता है। घनपाल ने अपने ग्रंथ में दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह (1325-51 ई.) का शासन करना लिखा है। सन् 1328 ई. में आचार्य जिनप्रभसूरि का मुहम्मदशाह को धर्मश्रवण कराना एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर कवि घनपाल का चौदहवीं शताब्दी ई. में 'भविसयत्तकहा' की रचना करना सुनिश्चित प्रतीत होता है। यह काल-निर्धारण नवीनतम अनुसंधान के आधार पर है।

कथानक—भविष्यदत्त की कथा जैनधर्म में एक लोकप्रिय कथा रही है। भविस की कहानी कष्ट एवं मार्मिक है। भविष्यदत्तकथा एक लौकिक कथा है। इसके तीन खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्ड में भविष्यदत्त के वैभव का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में कुरुराज और तक्षशिलाराज के युद्ध में भविष्यदत्त की प्रमुख भूमिका एवं विजय का वर्णन है। ग्रंथ के तृतीय खण्ड में भविष्यदत्त के तथा उनके साथियों के पूर्वजन्म और भविष्य-जन्म का वर्णन है। एक मुनि के उपदेश से भविष्यदत्त वैराग्य धारण करता है। अन्त में श्रुतपंचमी के माहात्म्य का वर्णन है। कथा के प्रारम्भ में भी इसी व्रत का संकेत है। कवि ने इस ग्रंथ में बड़े सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये हैं। कथा के प्रथम खण्ड में शृंगार रस, द्वितीय में वीर रस और तृतीय में शान्त रस की योजना हुई है। नखशिख-वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुकूल है। इस काव्य में अनेक सुन्दर प्राकृतिक वर्णन हैं। कवि ने काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का सुन्दर विनियोग करके उसे सौष्ठव प्रदान किया है। भाषा में लोकोक्तियों और वाग्धाराओं तथा सूक्तियों एवं सुभाषितों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। ग्रंथ में प्रायः मात्रिक वृत्त अधिक हैं।

प्रबन्ध संघटना—कथाबन्ध की दृष्टि से भविसयत्तकहा प्रबन्ध-काव्य है किन्तु वस्तुतः यह कथाकाव्य ही है क्योंकि इसमें कथा का विकास ही प्रमुख है। इसमें धार्मिक भावना की प्रधानता होने से, अन्त में अबान्तर कथाओं के सन्निवेश से कथानक गतिहीन एवं प्रभावहीन बन गया है। अबान्तर कथाओं का उद्देश्य कर्म-विपाक दिखाना एवं धार्मिक व्रत माहात्म्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना रहा है। यह पौराणिक प्रभाव है। बिटरतिज ने 'भविसयत्तकहा' को रोमांचक महाकाव्य माना है। डॉ० शम्भूनाथसिंह के मतानुसार रोमांचक कथाकाव्यों में कार्यान्वित नहीं होती और न नाटकीय तत्त्व ही अधिक होते हैं। उनका कथानक प्रवाहमय और वैविध्यपूर्ण अधिक होता है पर उसमें कसावट और थोड़े में अधिक

कहने का गुण जो महाकाव्य का प्रधान लक्षण है, नहीं होता। डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री ने भविसयत्तकहा को प्रबन्धकाव्य के मौलिक गुणों की दृष्टि से एक सफल रचना माना है। उनका कथन है—“प्रस्तुत काव्य में कथानक गतिशील और कसा हुआ है। केवल पूर्वजन्म की अवान्तर कथाओं में कुछ शैथिल्य प्रतीत होता है। परन्तु कथा और घटनाओं का आदि से अन्त तक पूर्ण सामंजस्य तथा कार्यान्विति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसलिए प्रबंध-काव्य के मौलिक गुणों की दृष्टि से यह एक सफल रचना कही जा सकती है क्योंकि इसमें कथानक का विस्तार कथा-तत्त्व के लिए न होकर चरित्र-चित्रण के लिए हुआ है जो महाकाव्य का प्रधान गुण माना जाता है। चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है। फिर कथानक में नाटकीय तत्त्वों का भी पूर्ण समावेश है। वस्तुतः इस काव्य का महत्त्व तीन बातों में है—पौराणिकता से हटकर लोक-जीवन का यथार्थ-चित्रण करना, काव्य-रूढ़ियों का समाहार कर कथा को प्रबंधकाव्य का रूप देना और उसे संवेदनीय बनाना।”

काव्य-रूढ़ियाँ—प्रस्तुत काव्य में अग्रांकित सात काव्य-रूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं—

1. मंगलाचरण
2. विनय प्रदर्शन
3. काव्य-रचना का प्रयोजन
4. सज्जन-दुर्जन वर्णन
5. वन्दना (प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में स्तुति या वन्दना)
6. श्रोता-वक्ता शैली
7. अन्त में आत्मपरिचय।

लगभग ये सभी काव्य-रूढ़ियाँ हमें अपभ्रंश के सन्देशरासक, अ्रवधी के पद्मावत और रामचरितमानस आदि में कुछ परिवर्तन के साथ दिखाई पड़ती हैं।

वस्तुवर्णन—भविसयत्तकहा कथाकाव्य में परम्पराभुक्त वस्तु-परिगणन शैली के साथ ही लोक-प्रचलित शैली में भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। नगर-वर्णन, नख-शिल-वर्णन, प्रकृति-वर्णन और वन-वर्णन में कोई विशेषता नहीं दिखाई पड़ती।

चरित्रचित्रण—भविसयत्तकहा में प्रमुख रूप से विरोधी प्रवृत्तियोंवाले वर्गगत चरित्र हैं। एक वर्ग में भविष्यदत्त और कमलश्री हैं तो दूसरे में बन्धुदत्त और सरूपा। राजा भूपाल और धनवइ व्यक्तिगत विशेषताओं से संयुक्त चरित्र हैं। राजा न्यायी, हित और अहित का विवेक रखनेवाला तथा अन्याय का प्रतिकार करनेवाला है। धनवइ लोकनीति और रीति का अनुसरण करता हुआ भी बिना किसी अपवाद के दूसरा विवाह करने हेतु

कमलश्री जैसी गुणवती स्त्री को छोड़ देता है। भविष्यदत्त के चरित्र में कवि ने सभी आदर्श-रूपों की प्रतिष्ठा स्वाभाविक साहचर्य से संयुक्त की है। वह वैश्य कुलोत्पन्न होने पर भी अपने गुणों से महान् पुरुष बन जाता है अतः धनपाल ने प्रसिद्ध महापुरुष की कथा को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उसके चरित्र के विकास में कवि ने अपने कौशल का परिचय दिया है। उसके व्यक्तिगत स्वभाव के साथ ही राजा को उपहार देकर प्रसन्न एवं अपने पक्ष में करने के उसके वैश्य जाति के लिए उचित जातिगत व्यवहार का चित्रण करना कवि मूलता नहीं। काव्य के प्रथम खण्ड में धनवद, कमलश्री और सरूपा के चरित्र प्रमुख हैं और द्वितीय खण्ड में भविष्यदत्त का चरित्र अपने चरम विकास पर है।

रस व्यञ्जना—भविसयत्तकहा की मुख्य कथा से वीर रस का घनिष्ठ संबंध है किन्तु वह परिणति में शृंगार से सम्बन्धित है क्योंकि युद्ध-वर्णन के मूल में राज्य-प्राप्ति न होकर स्त्री की संरक्षा है अतः इस काव्य में वीर रस प्रधान न होकर शृंगार रस ही प्रमुख है। कथा का पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। इस काव्य में कवि ने उदात्त-प्रेम का निरूपण करते हुए शृंगार की व्यञ्जना की है। इसमें शृंगार के संयोग और वियोग दोनों रूपों का चित्रण है। वात्सल्य का वर्णन भी दो-एक स्थलों पर सुन्दर बन पड़ा है। यह व्यञ्जना स्वाभाविक रूप से हुई है। माता कमलश्री की ममतामयी भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस काव्य में वियोग-वर्णन रीति-परम्परा से ग्रस्त मानवीय भावनाओं का प्रदर्शन न होकर मनुष्य-जीवन की वास्तविक अनुभूतियों से निष्पन्न हुआ है।

संवाद-योजना—प्रस्तुत कथाकाव्य में प्रबन्धकाव्य के उपयुक्त संवाद-योजना हुई है। संवादों की तो इसमें प्रचुरता है जिनमें नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्चातुर्य, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन एवं यथास्थान व्यंग्य का समावेश हुआ है। संवाद कथानक को गतिमान करने के साथ ही वातावरण तथा दृश्य को भी नेत्रों के समक्ष रूपायित कर देते हैं। इन संवादों की कसावट, सरसता तथा मधुरता अपनी विशेषता रखती है। भविष्यदत्त का माता के वात्सल्यपूर्ण उद्गारों के प्रति यह कथन देखिए—

भविसयत्तु विहसेविणु जंपइ तुम्हहं भीरत्तरिणण समप्पइ ।

अइयारि वामोहुरण किज्जइ समवयजणि षोढत्तणु हिज्जइ ॥

3.12

शैली—प्रस्तुत कथाकाव्य में अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों की कडवकबन्ध शैली प्रयुक्त है। कडवकबन्ध सामान्यतः दस से सोलह पंक्तियों का है। कडवक पञ्चटिका, अडिल्ला या वस्तु से समन्वित होते हैं। सन्धि के प्रारम्भ में तथा कडवक के अन्त में ध्रुवा, ध्रुवक या घत्ता छन्द प्रयुक्त हैं। घत्ता नाम का एक छन्द भी है किन्तु सामान्यतः किसी भी छन्द को 'घत्ता' कहा जा सकता है।

भाषा—राहुलजी ने धनपाल की भाषा को 'पुरानी हिन्दी', मैनारियाजी ने 'पुरानी राजस्थानी', डॉ. हमन जैकोबी ने 'उत्तरप्रदेश की एक बोली' माना है। डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री का स्पष्ट मत है 'धनपाल की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है, पर उसमें लोकभाषा

का पूरा पुट है। इसलिए जहां एक ओर साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं, वहीं लोकजीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण में वर्णित है।' धनपाल की भाषा साहित्यिक भाषा है। केवल लोक बोली का पुट या उसके शब्द-रूपों की प्रचुरता होने से हम उसे उस युग की बोलीजानेवाली भाषा नहीं मान सकते क्योंकि प्रत्येक रचना में बोलचाल के कुछ शब्दों का आ जाना स्वाभाविक है। इसका विचार भाषा की बनावट को ध्यान में रखकर किया जा सकता है कि वह बोली है या भाषा? धनपाल की भाषा में जैसी कसावट और संस्कृत के शब्दों के प्रति झुकाव है उससे यही सिद्ध होता है कि उनकी भाषा बोलचाल की न होकर साहित्य की है।

सादृश्यमूलक अलंकार— धनपाल ने अपने इस कथाकाव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग किया है। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग अधिक किया है। उपमा अलंकार के तो कई रूप मिलते हैं, मूर्त और अमूर्त भावों में भी साम्य दिखाया है। उदाहरणार्थ—

तेण वि दिट्ठु कुमार अकायर ।

बडवानसिए नाइं रयणायर ॥

5.18

अर्थात् उस राक्षस ने भविष्यदत्तकुमार को वैसा ही कायर देखा जैसे समुद्र के भीतर रहनेवाली बडवागिन होती है।

इसी प्रकार धनपाल ने अपने कथाकाव्य में प्रकृति-वर्णन में मानवीय रूपों तथा भावों की भी बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है। कवि की उर्वर एवं अनुभूतिमयी कल्पना का परिचय उसकी अलंकार-योजना में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

निष्कर्ष यह कि अपभ्रंश के कथाकाव्यों में 'भविसयत्तकहा' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस कथाकाव्य में प्रबन्धकार कविवर धनपाल की काव्यकला का अत्यन्त सुन्दर दिग्दर्शन उपलब्ध होता है। अपभ्रंश के चरित-काव्यों का हिन्दी साहित्य में महत्त्व निरूपित करते हुए आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—'इन चरित-काव्यों के अध्ययन से परवर्तीकाल के हिन्दी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्यरूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छन्द-योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यों से हिन्दी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।' आचार्य द्विवेदी ने रामचन्द्र शुक्ल के मत का खण्डन करते हुए धनपाल आदि जैन कवियों को हिन्दी काव्य-क्षेत्र में गौरवपूर्ण स्थान देने के लिए बड़ा ठोस तर्क दिया है—'स्वयम्भू, चतुर्भुज, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरित-मानस भी साहित्य-क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने धनपाल के 'भविसयत्तकहा'

कथाकाव्य का अपभ्रंश के चरित-काव्यों में बहुत ऊँचा स्थान माना है। इस काव्य में कवि ने उदात्त प्रेम, वीररस के उदात्त चरितनायक और वात्सल्य रस का मार्मिक चित्रण किया है। अतः प्राचीन चरितकाव्य के रूप में यह कथाकाव्य अपना विशेष महत्त्व रखता है।

1. तिलकमंजरी में चित्रकला, प्रस्तरकला तथा अन्य कला-कौशलों का स्थल-स्थल पर विशद उल्लेख है।
2. इनका समय 15वीं शती है।
3. राहुल द्वारा संकलित 'काव्यधारा'।
4. हिन्दी साहित्य, आचार्य डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, 1953, पृष्ठ 21।

पुरुष का पुरुषत्व

पुरिसिं पुरिसिठ्वउ पालिठ्वउ

परधणु परकलत्तु णउ लिठ्वउ ।

तं धणु जं अविणासियधम्मं

लठ्ठइ पुव्वक्कियसुहकम्मं ॥

अर्थ—पुरुष का पुरुषत्व इसी में है कि वह परधन और पर स्त्री की पालना करे, उन्हें ग्रहण न करे। धन वही है जो पूर्वकृतशुभकर्म एवं अविनाशी धर्म के द्वारा प्राप्त हो।

भवि 3.19.1-2

भेंट कवि धनपाल से

—श्री नेमीचन्द्र पटोरिया

□

मैं कवि धनपाल की 'भविसयत्तकहा' का मनोयोग से अध्ययन कर रहा था, शायद चार-पांच दिन बीते होंगे। नित्य की नाईं उषःकाल में मैं धूमने गया। ऊपर गगन में बादल छा रहे थे और भू पर प्रगाढ़ कुहरा। इतने में देखा कि एक लताकुंज से एक धुंधली मनुष्याकृति प्रकट हुई और बोली—“मैं धनपाल, 'भविसयत्तकहा' का लेखक हूँ। मुझे क्यों स्मरण किया गया ?”

मैंने सविनय अभिवादन किया और निडर होकर कुछ प्रश्न किये। उन्होंने उनके जो उत्तर दिये उन्हें मैं यहां लिख रहा हूँ—

प्रश्न—श्रीमन् ! आपका नाम आजकल के लेखक 'धनपाल' लिखते हैं लेकिन आपके ग्रंथ में आपका नाम 'धण्णवाल' या 'धण्णपाल' आता है। बतायेंगे कि आपका वास्तव में नाम क्या है ?

उत्तर—मेरा नाम संस्कृत में 'धनपाल' है लेकिन अपभ्रंश में 'धण्णवाल' या 'धण्णवाल' भी है। मैंने स्वयं अपने ग्रंथ में (संघि 5, 10, 11, 15, 20 और 22) 'धण्णपाल' या 'धण्णवाल' नाम ही स्पष्ट रूप से लिखे हैं।

प्रश्न—हे कविराज ! आपके रचित ग्रंथ के भी विविध नाम हैं। मूलरूप से वास्तविक नाम क्या है बतायेंगे ?

उत्तर—यह सच है कि मेरी रचना विभिन्न नामों से विश्रुत है। मैंने आरम्भ में ही इसे 'सुयपंचमीकहा' याने 'श्रुतपंचमीकथा'¹ कहा है। श्रेणिक ने गौतम गणधर से 'सुयपंचमीकहा' पूछी है।² गौतम गणधर ने इसी कथा को 'सुयपंचमीकहा' कहा है। ग्रंथ के अन्त में भी इसे 'श्रुतपंचमीकथा' ही कहा है।³ अतः मैं मूलरूप से इसे 'सुयपंचमीकहा' या 'श्रुतपंचमीकथा' मानता हूँ किन्तु कथा का नायक भविसयत्त (भविव्यदत्त) है और सारी कथा इस कथानायक से लिपटी हुई है अतः इसे 'भविसयत्तकहा' कहना भी अनुचित नहीं है। लोक में यह भविव्यदत्तकथा के नाम से प्रचलित है। मैं भी लोकभावना का आदर करता हूँ और इस रचना को 'भविसयत्तकहा' भी कहता हूँ।⁴

प्रश्न—कविरायजी ! आपने अपना परिचय तो केवल दो पंक्तियों में दिया है। इतना कम क्यों ?

उत्तर—मैंने अपना परिचय अन्तिम संधि में यह दिया है—

धक्कड वणिवंसि माएसरहो समुम्भविण ।

धणसिरिदेविसुण विरइउ सरसइसभविण ॥⁵

अर्थात् मैं धक्कड बनिया वंश में उत्पन्न हुआ, पिता मायेश्वर और मां का नाम धनश्री है, साथ ही मैं देवी सरस्वती का पुत्र हूँ। मेरी समझ से यही पर्याप्त है।

प्रश्न—हे शारदापुत्र ! आपने स्वयं को 'सरसइसभविण (सरस्वतीप्रसूत पुत्र)⁶ कहा, साथ ही 'सरसइवहुलद्धमहावरेण' (सरस्वती के बहुलब्ध महावरदान से)⁷ कहा, क्या यह आत्मश्लाघा या स्वप्रशंसा नहीं है ?

उत्तर—आपकी शंका समुचित है। वास्तविकता यह है कि इस कथा को लिखने के पूर्व मैंने चार सुन्दर रचनायें भी की थीं, जिनको पढ़कर या सुनकर, राजा व प्रजा मुझे सरस्वती-वर-प्राप्त या सरस्वती-पुत्र कहते थे। वह मेरे लिए जनता की स्नेहमयी पदवी थी। मैंने जनता की प्रदत्त पदवी व संबोधन को अपनाकर लिखा है। वास्तव में मैंने आरम्भ में ही अपने लिए 'हुउं मंदबुद्धि णिग्गुणु णिरत्थु मोहंघयारि' (मैं मंदबुद्धि, निर्गुण, निरर्थक, मोहान्धकारी)⁸ ये विशेषण लिखे हैं। इससे सोच सकते हैं कि मैं स्वप्रशंसा या अभिमानग्रस्त नहीं हूँ। पर विद्वद्गण व प्रजा ने जो विशेषण या पद मेरे लिए प्रदत्त किये हैं, उन्हें स्वीकार करने में मैं वास्तव में प्रजा का आदर समझता हूँ। स्नेह से दी हुई कोई भी वस्तु या विशेषण को अस्वीकार करना स्नेही का अनादर है। अतः मैं उन विशेषणों का प्रयोग स्पष्टतः करता हूँ।

प्रश्न—विद्वद्वर ! 'भविसयत्तकहा' का अभिप्राय या ढांचा जिसे कथानकरुद्धि कहते हैं वे क्या हैं ?

उत्तर—प्रश्न आपका सुन्दर है। वास्तव में कथानकरुद्धि पर कथा की इमारत चुनी जाती है। वह निम्नलिखित है⁹—

1. मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन-प्रशंसा ।
2. धनपाल सेठ और उसकी पत्नी पुत्राभाव से चिंतित ।
3. मुनि की भविष्यवाणी के अनुसार समय पर पुत्र-रत्न की प्राप्ति ।
4. धनपाल का दूसरी शादी करना ।
5. पहली पत्नी और भविष्यदत्त की उपेक्षा ।
6. दूसरी पत्नी से बंधुदत्त का उत्पन्न होना ।
7. दोनों पुत्रों का 500 व्यापारियों के साथ देशान्तर-भ्रमण पर जाना ।
8. समुद्र में तूफान का आना और बंधुदत्त द्वारा भविष्यदत्त को धोखा देकर तिलक द्वीप पर छोड़ जाना ।
9. भविष्यदत्त का जनशून्य नगरी में पहुंचना ।
10. वहां अतीव सुन्दरी कन्या के दर्शन ।
11. एक राक्षस द्वारा दोनों का विवाह कराना और 12 वर्ष तक साथ-साथ रहना ।
12. समुद्र के किनारे किसी जहाज की खोज में जाना, वहां असफल बंधुदत्त से भेंट ।
13. बंधुदत्त द्वारा क्षमायाचना और भविष्यदत्त की सारी सम्पत्ति तथा पत्नी को जहाज पर चढ़ाना ।
14. जहाज चलने से पूर्व भविष्यदत्त का जिनमंदिर में दर्शन करने जाना और बंधुदत्त द्वारा उसे छोड़कर उसकी सम्पत्ति व उसकी पत्नी को लेकर भाग जाना ।
15. देव की सहायता से भविष्यदत्त का घर पहुंचना ।
16. राजा से शिकायत और न्याय प्राप्त करना ।
17. राजा द्वारा भविष्यदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाना व राजकुमारी से विवाह करना ।
18. प्रथम पत्नी की मातृभूमि जाने की इच्छा, मैनाक द्वीप की यात्रा और जैन मुनि के दर्शन ।
19. कुछ दिन बाद मुनि द्वारा भविष्यदत्त के पूर्वभव का वर्णन और भविष्यदत्त का वंराग्य ।
20. श्रुतपंचमी का माहात्म्य ।

इस प्रकार मैंने कथानकरुद्धियों का ढांचा स्पष्ट कर दिया है ।

प्रश्न—आपने बड़ी सुन्दरता से कथानकरुद्धियों के माध्यम से सम्पूर्ण कथा का सार बता दिया है ? किन्तु आपने “बिहिसंबहि बावीसंहि संधिहं परिचितियनियहेउ निबंधिहं”¹⁰ लिखकर कथा को दो भागों में क्यों बांटा ? जबकि अनेक विद्वान् इसे तीन भागों में बांटने के पक्ष में हैं ।

उत्तर—मैं मानता हूँ कि भविष्यदत्तकथा का पूर्वभाग वहाँ समाप्त होता है जहाँ वह राजा से न्याय पाकर अपनी सम्पत्ति व स्त्री को पाने के साथ ही राजा का कृपापात्र होकर युवराज पद पाता है व राजकुमारी से विवाह करता है ।

दूसरा भाग इसके बाद का है जहाँ कुरु-नरेश और तक्षिला नरेश में युद्ध होता है और भविष्यदत्त अपनी वीरता से युद्ध में विजयी होता है तथा अंत में वह साधु बनता है, उसके साथी भी धर्ममार्ग पर चलते हैं और कथानायक और उनके संयमी साथी अपवर्ग को प्राप्त होते हैं ।

हां ! कोई कोई दूसरे भाग के दो भाग करते हैं । एक युद्धभाग दूसरा धर्माचरणभाग । इस तरह कथानक के तीन भाग होते हैं ।

प्रश्न—विज्ञवर ! जानने का कौतूहल है कि यह भविष्यदत्तकथा आपकी स्वतंत्र-कृति है या आपने किसी का अनुसरण किया है ?

उत्तर—मुझे स्वीकार करने में जरा भी संकोच नहीं है कि यह मेरी स्वतंत्र रचना नहीं है । यह कथानक पूर्व से ही लोकप्रिय था और मैंने इसकी पद्यरचना की । इसमें मां सरस्वती का ही प्रसाद है मेरा कुछ नहीं है । मेरी रचना की 14वीं संधि के 20वें कडवक की 17वीं पंक्ति पढ़िये उसमें है—पारंपरकव्वहं लहिवि भेउ मइ भंरिबउ सरसइवसिए एउ परम्परा से पुरानी कविता प्राप्तकर सरस्वती मां की सहायता से मैंने यह रचना की । इससे यह स्पष्ट है कि मेरा काव्य कल्पित या स्वतंत्र रचित नहीं है । वैसे मैंने आरम्भ में भी लिखा है कि राजा श्रेणिक ने गणधर गीतम से श्रुतपंचमीकथा के सम्बन्ध में पूछा था—
पुच्छंतह सुयपंचमिबिहाणु तंहि आयउ एउ कहाणिहाणु¹² । मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि मेरे पूर्व के कवि विबुध श्रीधर के 'भविष्यदत्तचरित्र' का अत्यन्त प्रभाव है¹³ और ऐसा कथानक बौद्ध-ग्रन्थों में भी मिलता है । इससे स्पष्ट है कि यह रचना मेरी स्वतंत्र कृति नहीं है ।

प्रश्न—हे कविवर ! मुझे आपके धर्म व संप्रदाय के जानने की अभिलाषा है । कृपा कर स्पष्ट कीजिये ।

उत्तर—यह प्रश्न मेरे काव्य से नहीं मेरे स्वयं से सम्बन्धित है । मुझे स्पष्ट करने में गौरव है कि मैं दिगंबर संप्रदाय का अनुयायी हूँ इसलिए अपनी मान्यता के अनुसार मैंने वर्णन किया । जैसे—मूलगुणों के वर्णन में मैंने मधु, मांस, मद्य और पांच उदम्बर का वर्णन किया है कि उन्हें कभी भी नहीं खाना चाहिये ।¹⁴ यह कथन भावसंग्रह के कर्त्ता दिगंबर-आचार्य देवसेन के अनुसार है । इसी प्रकार सोलह स्वर्गों का वर्णन दिगंबर अम्नायानुकूल है (20.9.8) । साथ ही सल्लेखना का चतुर्थ शिक्षाव्रत के रूप में वर्णन करना दिगंबराम्नाय का द्योतक है । इस तरह जहाँ आवश्यकता हुई मैंने दिगंबर अम्नाय के अनुकूल लिखा है ।

प्रश्न— हे प्रबुद्ध ! आपने अपना काव्य किस शैली में लिखा है ?

उत्तर—स्पष्ट है कि मेरा काव्य कडवकबद्ध शैली में लिखा है। मेरे सामने कवि स्वयंभू का 'पउमचरिउ' था। मैंने उसको आदर्श मानकर उसकी कडवक शैली अपनाई। मेरी रचना में तीन सौ सैंतीस कडवक हैं। इनमें आरम्भ में दुवई और अंत में भी दुवई का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं आरम्भ में दोहा या चौपाई और अंत में दुवई तथा घत्ता प्रमुख हैं। एक कडवक में दस पंक्तियों से लेकर तेरह पंक्तियों तक में पढडिया छन्द का प्रयोग हुआ है। मैंने अपने काव्य में प्रसाद गुण को ही अपनाया है। मैंने नवरसों को यथास्थान उंडेला है और अलंकारों में उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक और अर्थान्तरन्यास का बहुत उपयोग किया है। सारांश में मैंने अपने काव्य में कला-पक्ष का भी सतत् ध्यान रखा है। मैंने अपनी ओर से जितना मुझे ज्ञान था उसे सावधानी से अपनी रचना को समर्पित किया है। वैसे मैं अपने को अल्पधी ही मानता हूँ।

इतने में सूर्य की प्रथम किरण चमकी तो भेंट कर्ता आत्मा अदृश्य होने लगी। मैं केवल विदाई का प्रणाम उन्हें दे सका और विचार-मग्न हो धीरे-धीरे घर की ओर बढ़ा।

1. भविसयत्त कहा 1.1.2
2. भ. क. 1.4.8
3. भ. क. 22.11.9
4. ग्रंथ का यह नाम अन्त में है—'समता भविसयत्तकहा'
5. भ. क. 22.9.9-10
6. भ. क. 22.9.10
7. भ. क. 1.4.5
8. भ. क. 1.2.1-2
9. अपभ्रंश कथाकाव्य एवं हिन्दी प्रेमाख्यान—डॉ. प्रेमचन्द्र जैन, पृष्ठ 310-11
10. भ. क. 22.9.10
11. भविसयत्तकहा—ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट ऑफ बड़ौदा, प्रस्तावना—पृष्ठ 4
12. वही 1.4.8
13. भविसयत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य—डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ. 85
14. महू मज्जु मंसु पंचुवराइ खज्जंति न जम्मंतरसयाइं। 16.8.1



द्वीपान्तर-गमन समय भविस को माता की शिक्षा

बहु रइ बयणालाउ ए किज्जइ ।
जंपंतिहु महियलु जोइज्जइ ।
रायणंइ होंति जुवाणह मुद्धउ
तरुणिवयणवंसररसलुद्धउ ॥

अर्थ—स्त्रियों में अधिक रुचि मत दिखाना, उनके साथ अधिक वार्तालाप मत करना, उनसे वार्तालाप करते समय नेत्रों को नीचे पृथ्वी की ओर झुके रखना क्योंकि जवान मूढ़ और तरुणियों के वचन व दर्शन के रस के लोलुप होते हैं ।

घत्ता—जोष्वणवियाररसवसपसरि
सो सूरउ सो पण्डियउ ।
चलमम्मणवयणुल्लावएंह
जो परतिर्यांह ए खंडियउ ॥

अर्थ—यौवन के विकार रूपी रस के प्रभाव से प्रभावित होकर परस्त्रियों के चंचल कामदेव के वचन और गुप्त संकेतों से खण्डित मत होना । शूरवीर ऐसा ही होता है, पण्डित ऐसा ही होता है ।

भवि. 3.18.7-10



महाकवि धनपाल की काव्यप्रतिभा

—डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा “अरुण”



भारतीय आर्यभाषाओं के विकासक्रम में मध्यकालीन आर्यभाषाओं—प्राकृत एवं अपभ्रंश का जो विपुल साहित्य अब उत्तरोत्तर विवेचित होकर हमारे समक्ष आ रहा है, उससे मध्यकालीन आर्यभाषा की अत्यन्त समृद्ध कथा-परंपरा भी उभर कर सामने आई है।

अपभ्रंश साहित्य बहुमुखी एवं बहुआयामी रहा है। प्राकृत भाषा के कथा-साहित्य से प्रेरणा लेकर अपभ्रंश कवियों द्वारा रचे गए कथाकाव्यों की एक सुदीर्घ एवं सुपुष्ट परंपरा आज हमें मिलती है। डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री का एक कथन मैं इसलिए यहाँ उद्धृत करना चाहता हूँ, जिससे स्पष्ट हो सके कि लिखित कथाकाव्य परंपरा का आधार मूलतः लोकाख्यान ही रहे हैं। डॉ० देवेन्द्र का कथन है—“यद्यपि लोकाख्यान सहस्रों वर्षों से जन-जन की भाषा में प्रत्येक देश में मौखिकरूप से प्रचलित रहे हैं, किन्तु उनका लिखित रूप बहुत प्राचीन नहीं है। साहित्य-लेखन की परम्परा के प्रचलित हो जाने के बहुत बाद लोकाख्यानों का सन्निवेश काव्यात्मक रूपों में संस्कृत और तदनन्तर प्राकृत-साहित्य में किया गया।”¹

संस्कृत-लोकाख्यानों में जहाँ धर्म प्रधान हो गया, वहीं प्राकृत भाषाओं में रचित कथा-साहित्य लोकजीवन से गहरा जुड़ गया है और धार्मिक जीवन को भी यहाँ लोक-

जीवन से समंजित करके चित्रित किया है। प्रेम तथा धार्मिक चिन्तन प्राकृत-अपभ्रंश के कथा-काव्यों में समानान्तर चलते हैं, इसीलिए अपभ्रंश के कथाकाव्यों में गहन जीवन-दृष्टि के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण उच्चतर जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति भी हमें मिलती है।

प्राकृत-भाषा के कथा-साहित्य की मूल्यवान् कृतियाँ आज भी ग्रंथागारों में जिज्ञासु अध्येताओं की प्रतीक्षा कर रही हैं। अपभ्रंश में भी कथाकाव्य की लम्बी परम्परा हमें मिलती है। महाकवि धनपाल की “भविसयत्तकहा”, कवि लाखू की “जिनदत्तकथा”, कवि सिद्ध साधारण की “विलासवइकहा”, कवि रइधू की “सिरिपालकहा” जैसी कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं जिनसे एक समृद्ध परम्परा की झलक सहज ही हमें मिलती है। डॉ० देवेन्द्रकुमार ने अपभ्रंश कथाकाव्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर इंगित किया है—“अनेक छोटी-छोटी कथाएँ व्रत-संबंधी आख्यानों को लेकर या धार्मिक प्रभाव बताने के लिए लोकाख्यानों को लेकर रची गई हैं।”² वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विविध रूपों का सजीव चित्रण इन कथाओं में हुआ है। अतः ये महत्त्वपूर्ण बन गई हैं।

अपभ्रंश भाषा के विशिष्ट महाकवि “धणवाल”³ अर्थात् धनपाल ने अपनी कथा-कृति “भविसयत्तकहा” (भविसयत्तकहा) में “श्रुतपंचमीव्रत” का महत्त्व निरूपित किया है।

अहो लोयहो सुयपंचमीविहाणु।

इउ जं तं चितिय सुहनिहाणु ॥

22. 10. 1.

महाकवि धनपाल की यह कृति अपभ्रंश काव्यधारा के उत्कर्ष का उत्कृष्ट उदाहरण कही जा सकती है। “भविसयत्तकहा” के महत्त्व को रेखांकित करते हुए डॉ० पी० डी० गुणें ने लिखा था—

“The importance of the discovery of this work by these two scholars lies in the fact that this is the first big Apbhramsa work made available to the world of oriental Scholars.”⁴

निश्चय ही अपभ्रंश-कथाकाव्य-परम्परा में महाकवि धनपाल की इस कथाकृति “भविसयत्तकहा” का विशेष स्थान है क्योंकि इसमें 10 वीं शताब्दी के भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिवेश मुखर हो उठा है।

महाकवि धनपाल : व्यक्तित्व विवेचन— हमारा दुर्भाग्य ही है कि हम अपने महान् साहित्यकारों के व्यक्तित्व के विषय में बहुत कम जानते हैं। अपभ्रंश के आदि महाकवि स्वयंभूदेव से पूर्व के कवि चतुर्मुख आदि का परिचय हमें क्या मिलेगा जबकि स्वयंभूदेव, पुष्पदन्त आदि महाकवियों का ही परिचय हमें नहीं मिल पाया है।

“भविसयत्तकहा” के कथाकार धनपाल ने भी अपनी इस कृति में अपने विषय में लिखा है—

धक्कड़वणिवंसि माएसरहो समुम्भविण ।

धणसिरिदेविसुएण विरइउ सरसइसंभविण ॥

22. 9

अर्थात्—धक्कड़ वणिक्वंश में माहेश्वर तथा धनश्री देवी से उत्पन्न पुत्र अर्थात् धनपाल ने सरस्वती की कृपा से इस कृति की रचना की है ।

“जैन साहित्य और इतिहास” में प्रख्यात विद्वान् श्री नाथूराम प्रेमी ने तीन धनपाल नामक व्यक्तियों का उल्लेख किया है ।⁵ धक्कड़ या धकंट वणिक् जाति के होते हैं । प्रेमीजी के अनुसार “धम्मपरिक्खा” के रचयिता महाकवि हरिषेण भी “धक्कड़ वंश” के ही हैं ।⁶

धक्कड़वंशीय धनपाल ही “भविसयत्तकहा” के रचयिता हैं । शेष दो धनपालों में एक ब्राह्मण हैं जो मुंज के राजकवि थे और दूसरे पल्लिवाल (पालीवाल) हैं जो गद्य-रचना “तिलकमंजरी” के रचनाकार हैं ।⁷

धनपाल प्रणीत “भविसयत्तकहा” में काव्यत्व—महाकवि धनपाल को जैकोबी तथा पी. डी. गुणे, सी. डी. दलाल, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री एवं नाथूराम प्रेमी आदि अधिकांश विद्वानों ने 10 वीं शती का रचनाकार माना है, जो उनकी भाषा से संपुष्ट भी होता है । “भविसयत्तकहा” में कवि ने परम्परित काव्यरूढ़ियों, कथा-प्रतीकों एवं कवि-समयों का प्रयोग किया, जिससे तत्कालीन परिवेश मुखर हो उठा है । धनपाल जैन मतावलम्बी हैं, अतः अपनी इस काव्य कृति का आरम्भ वे “आदितीर्थकर ऋषभजिन” की वन्दना से करते हैं—

जिणसासणि सातु णिदुअपावकलंकमलु ।

सम्मत्तविसेसु निसुणहं सुयपंचमिहि फलु ॥

पणविप्पिणु जिणु तइल्लोयबंधु बुत्तरतरभवणिणव्वूढखंधु ।

× × × ×

अरहंतु अणंतु महंतु संतु सिउ संकतु सुहमु अणाइवंतु ।

इस भावपूर्ण “जिनवन्दना” के साथ ही कवि धनपाल परम्परित रूप में महाकवि स्वयंभूदेव की ही भांति “बुधजन-प्रशंसा” एवं “दुर्जननिन्दा” भी करते हैं—

बुहयण संभालमि तुम्ह तेत्थु हउं मंदबुद्धि णिणुणु णिरत्थु ।

1. 2

× × ×

जो पुणु खलु खुइडु अइट्ठु संगु सो किं अग्भत्थियु वेइ अंगु ।

परच्छिइसएहिं वावारु जासु गुणवंतु कहिंमि किं कोवि तासु ॥

1. 3

इस प्रकार कवि अपनी विनम्रता के साथ-साथ स्वाभिमान को भी सजीव अभिव्यक्ति देता है।

कथा का आरम्भ कवि श्रेणिकराज के प्रश्न और गौतम गणधर के उत्तर की परम्परा से करता है। इस कथा का सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि इस “प्रेमकथा” को कवि ने धर्म के आवरण से ढक कर मनोहारी बना दिया है। वास्तविकता यह है कि कवि ने कथानायक के रूप में किसी राजा अथवा राजकुमार को न लेकर साधारण वणिक्-पुत्र “भविष्यदत्त” को लिया है जिससे कथा में लोकचेतना को सहज ही अभिव्यक्ति मिली है।

इस कथा के माध्यम से कवि धनपाल बहुविवाह के दुष्परिणाम को वाणी देता है और साथ ही उसने साध्वी तथा कुटिल स्त्री के अन्तर को सरूपा एवं कमलश्री के माध्यम से व्यक्त किया है। कवि सामाजिक मूल्यों को निरन्तर वाणी देने का उपक्रम करता है। परम्परा से प्राप्त त्याग, उदारता, स्नेह, सद्भाव एवं सहानुभूति जैसे मानव-मूल्यों को कवि धनपाल यत्र-तत्र कथा के सूत्रों में गूँथ देता है। धार्मिक एवं सद्वृत्ति प्रधान पात्रों का अम्युद्य “भविसयत्तकहा” में सर्वत्र दिखाया जाना कवि की महान् दृष्टि का परिचायक ही है। पश्चात्ताप का महत्त्व कवि निरूपित करता है—

दोहत्तरासाउ महु इहलोयवि संभविउ ।

दुहदुभिम्यवेहु दीवि दीउ परिब्भमिउ ॥

6. 20.

इस प्रकार “सत्” के समक्ष “असत्” की पराजय दिखाना महत्त्वपूर्ण है।

कवि धनपाल ने इस कथा को दो खण्डों में विभक्त किए जाने का संकेत कृति की अन्तिम सन्धि में दिया है—

बिहिलंडाह बावीसाह संधिह ।

परिचतियनियहेउनिबंधिह ॥

22. 9. 8

लेकिन डॉ० रामसिंह तोमर “भविसयत्तकहा” की कथा के तीन भाग होना मानते हैं—“भविष्यदत्त कथा का कथा-प्रसंग काफी लोकप्रिय और प्राचीन प्रतीत होता है। कृति के कथा भाग के तीन स्वतन्त्र खण्ड लगते हैं।”⁸

पूरी कृति में कवि वस्तुतः सत् एवं असत् के बीच द्वन्द्व दिखाना है। कथानायक भविष्यदत्त एवं प्रतिनायक बंधुदत्त क्रमशः उदात्त एवं कुटिल मनोवृत्ति के प्रतीक ही हैं। इस से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कवि धनपाल का मूल उद्देश्य उदात्त एवं महत्तर जीवन-मूल्यों की स्थापना करना ही है।

जहां तक काव्य-सौन्दर्य का प्रश्न है महाकवि धनपाल ने आलंकारिक शैली के स्थान पर सहज कथा कहना अधिक उचित समझा है। डॉ० तोमर कहते भी हैं—“स्वयंम् और पुष्पदन्त के समान अलंकृत शैली का भविष्यदत्तकथा में प्रयोग नहीं मिलता।⁹

कवि धनपाल भरत खण्ड स्थित “कुरुजंगल” का चित्रण करते हैं लेकिन उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं या रूपकों की झड़ी नहीं लगाते बल्कि सहज रूप में प्रकृति का चित्रण कर देते हैं—

जहि पुरइं पवडिडय कलयलाइं धम्मत्थकाम संचियफलाइं ।
जहि मिहुरणइं मयणपरठ्वसाइं अबतुप्पतु परिवडियर साइं ॥¹⁰

प्रकृति-चित्रण के संदर्भ में ही मैं कवि धनपाल द्वारा किए गए संघ्याकाल एवं सूर्योदय के दो चित्र प्रस्तुत करना चाहूँगा जिनसे स्पष्ट है कि कवि आलंकारिकता के व्यामोह में न फँसकर वस्तु-वर्णन तक ही सीमित रहा है—

थिय बीसवन्तु खणु इक्कु जाम दिणमणि अत्थवरणहु दुक्क ताम ।
हुअ संभतेयतं बिरसराय रत्तंबरु एं पंगुरिवि आय ॥ 4.4. 3-4
× × ×

परिगलिय रयणि पयडिउ विहाणु एं पुरणवि गवेसउ आउ भाणु ॥¹¹
जिणु संभरंतु संचलिउ धीरु वरिण हिडइ रोमंचियसरीरु ॥

यों ऐसा नहीं है कि कवि धनपाल अलंकारों का प्रयोग नहीं करते लेकिन कथा-संगठन के मूल्य पर अलंकार-चित्रण से वे दूर ही रहते हैं। युद्ध-वर्णन के प्रसंग में भी कवि अलंकारों के मोह में नहीं पड़ता बल्कि राजदूत, राजा एवं रानी, मंत्रीगण तथा सेनापतियों आदि के बीच गम्भीर मंत्रणा दिखाकर अपने कथा-संगठन की कुशलता को ही दिखाता है। इससे वर्णन सीधे और सपाट ही रहे हैं।

इस संदर्भ में डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन का यह कथन उल्लेखनीय बन गया है—
“अलंकृत शैली की अपेक्षा धनपाल काव्य को मनुष्यहृदय के निकट रखना अधिक पसन्द करते थे। थोड़ी सी अतिरंजना और धार्मिक अंश को छोड़कर उनकी रचना लोक-हृदय के बहुत निकट है।”¹²

वास्तविकता यही है कि महाकवि धनपाल अपनी इस कथाकृति से सत्-असत् का अन्तर समाज के सम्मुख लाना चाहते हैं। एक श्रेष्ठी की दो पत्नियाँ—कमलश्री और सरूपा जब अपने पुत्रों को शिक्षा देती हैं तो कवि धनपाल मनोवृत्तियों का अन्तर स्पष्ट कर देते हैं—

को जाणइं कण्णमहाविसइ अणुदिणु दुम्मइमोहियइं ।
समविसम सहावाँह अंतरइं दुट्ठसवत्तिहि बोहियइं ॥ 3.10

कमलश्री की सज्जनता और सरूपा की दुर्जनता क्रमशः भविष्यदत्त और बंधुदत्त को दिए उनके उपदेशों से प्रकट हो ही जाती है।

वस्तुतः “भविसयत्तकहा” अपने आप में अपभ्रंश भाषा की विशिष्ट कथाकृति सिद्ध होती है जिसमें उत्तरवर्ती प्रेमाख्यान काव्य-परंपरा के सूत्र देखे जा सकते हैं। डॉ० नामवरसिंह का यह मत इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—“धार्मिक प्रसंगों को अलग कर देने पर पूरी कथा सुन्दर प्रेमाख्यान है, जो आज भी उत्तर भारत के गांवों में प्रचलित है। इस कृति में प्रेम, शृंगार, करुणा, युद्ध, वात्सल्य, स्त्री-प्रकृति का अध्ययन, प्रकृति-वर्णन, देश और नगर वर्णन अत्यन्त सरल तथा सजीव शैली में हुआ है।”¹³

कवि धनपाल की यह कथाकृति भाषा और छन्दों के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। भात्रिक तथा वर्णिक छन्दों का सटीक प्रयोग कथा-प्रवाह को गति देता है। धनपाल की भाषा में यत्र-तत्र शिथिलता और अनेकरूपता देख कर ही डॉ० पी० डी० गुरो ने इसे उस काल की रचना माना है जब अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में बोली जाती थी।¹⁴

इस कृति का सर्वाधिक महत्त्व है इसकी समाजचेतना के कारण। भावों तथा परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के बीच कथानायक भविष्यदत्त का अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना कवि की मूल्य-दृष्टि की ओर इंगित करता है। जैनधर्म के अनुसार कवि धनपाल ने भी पूर्वजन्मों और अन्ततः निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन करके इस प्रेमकथा को जैनधर्म का अंग बना दिया है। यत्र-तत्र जिन-मन्दिर में पूजा-अर्चना के चित्र भी कवि की जैन-दृष्टि के परिचायक हैं।

महाकवि धनपाल ने इस कृति में आदितीर्थंकर ऋषभजिन की अपेक्षा आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की वन्दना यत्र-तत्र बार-बार की है। इससे यह प्रतीत होता है कि चन्द्रप्रभ की भक्ति कवि धनपाल के समय प्रमुखता से की जाती रही होगी। एक ऐसा स्थल देखिए—

चंद्रप्पहुजिणुसामि नमंसिवि पावकलंकपंकु विद्धंसिवि ।
 चउविहसवरणसंघु अहिणंसिवि अप्पउ सलहिवि गरहिवि निदिवि ।
 सोवइ निद जास थोवंतर तामन्नित्तहि चलिउ कहंतर ।
 पुब्बविदेहि मुण्णिदु जसोहर संठिउ सुक्कअभाणि परमेसर ।
 नाणुप्पणु तामु तं केव्लु चउविहदेवागमणु समुज्जलु ।¹⁵

इसमें दो मत नहीं हैं कि महाकवि धनपाल की “भविसयत्तकहा” मूलतः प्रेमाख्यान है लेकिन कवि ने लोकपरंपरा से प्राप्त कथा¹⁶ के माध्यम से जैनधर्म और दर्शन को यत्र-तत्र सजीव अभिव्यक्ति देकर इस कृति को व्यापक आधार प्रदान कर दिया है, यह भी एक तथ्य ही है।

काव्यत्व की दृष्टि से “भविसयत्तकहा” सफल अपभ्रंश कथाकाव्य है जिसमें परंपरित कथारूढ़ियों, सामाजिक मान्यताओं, धार्मिक अभिरुचियों आदि का चित्रण तो हुआ ही है साथ ही साथ कवि उदात्त जीवनमूल्यों में गहरी आस्था जगाने में भी सफल हुआ है। यही मेरी दृष्टि से महाकवि धनपाल की प्रसिद्धि का मूल कारण भी है। डॉ० नामवरसिंह के ये शब्द मुझे सटीक लगते हैं—“काव्य-कला की दृष्टि से धनपाल की यह कृति स्वयंभू और पुष्पदन्त के बाद का गौरवपूर्ण स्थान पाती है।”¹⁷

अपभ्रंश भाषा के इस गौरवशाली महाकवि की कथाकृति का मूल्यगत विवेचन यदि किया जाए तो हमें 10वीं शती के समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य, कला और अर्थशास्त्र का व्यापक परिचय मिल सकेगा, यह मेरा विश्वास है।

1. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ, डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृष्ठ-32
2. वही, पृष्ठ-34
3. ‘भविसयत्तकहा’ की पुष्पिका—‘घणावालि तेण पंचमी पंचपयार किय’, 22.11
4. Bhasisayattakaha of Dhanpala Ed. P. D. Gune, Introduction, Page-1
5. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ-408
6. वही, पृष्ठ-409
7. वही, पृष्ठ-410
8. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, डॉ. रामसिंह तोमर, पृष्ठ-118
9. वही, पृष्ठ-120
10. भविसयत्तकहा, सम्पादक-पी. डी. गुणे, 1.5.4-5
11. वही, 4.5
12. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ-74
13. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवरसिंह, पृष्ठ-178 (प्रथम सं.)
14. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ-74
15. भविसयत्तकहा, सम्पादक-पी. डी. गुणे, 5.1.1-5
16. ‘पारंपर कव्वहं लहिविभेइ मइं भंखिउ सरसइवसिण एउ’, भविसयत्तकहा, 14.20.17
17. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवरसिंह, पृष्ठ-178

भविस को मुनिराज का उपदेश

(संसार की असारता और नश्वरता)

धत्ता— संखिप्पइ आउ दियहिं दियहिं कुसरीरु जहिं ।
सुट्टु वि सुहिसंगि निब्बुइ किज्जइ काइं तहिं ॥12॥

अहो नरिब संसारि असारइ,
तत्क्षणि विट्ठपणट्टवियारइ ।

पाइवि मणुअजम्मु जणवल्लहु,
बहुभवकोटिसहासि बुल्लहु ॥

जो अणुबन्धु करइ रइलम्पट्ट,
तहो परलोए पुणुवि गउ संकडु ॥

जइ वल्लहविअोउ नउ वीसइ,
जइ जोव्वणु जराए ए वियासइ ॥

जइ ऊसरइ कयावि न संपय,
पिम्मविलास होंति जइ सासय ॥

तो मिल्लिवि सुवन्नमणिरयणइं,
मुणिवर कि चरन्ति तवचरणइं ॥

अर्थ—क्या निवृत्ति तब ग्रहण की जाती है जब दिन-दिन आयु क्षीण होती जाती है, अच्छा शरीर भी बिगड़ जाता है और मित्र भी साथ छोड़ देते हैं ॥12॥

हे नरेन्द्र ! यह संसार असार है, तत्क्षण देखते-देखते विदीर्ण हो जाता है । हे जनवल्लभ ! हजारों कोटि भवों में भी जिस मनुष्य जन्म का पाना दुर्लभ है उसे पाकर भी जो विषय-लोलुपी उनमें फंसा रहता है तो उसका परलोक भी संकटपूर्ण हो जाता है । यदि वल्लभ का वियोग दिखाई न पड़ता, यदि यौवन व बुढ़ापे का नाश न होता, यदि सम्पत्ति कभी भी नष्ट नहीं होती और यदि प्रिय विलास शाश्वत होते तो क्या मुनिवर स्वर्ग एवं मणिरत्नों को पाकर भी तपश्चरण करते ?

भवि, 18.12.11-12.

18.13.1-7

भविसयत्तकहा का साहित्यिक महत्त्व

—डॉ० आबित्य प्रचण्डिया 'दीति'



भारतीय साहित्य की एक सुदीर्घ परम्परा का इतिहास अपभ्रंश साहित्य है। अपभ्रंश वाङ्मय वैविध्य के मान से सीमित है। विधागत विविधता चाहे इस साहित्य में न हो पर प्रामाणिकता में यह बेजोड़ है। आध्यात्मिक जीवन की जितनी अनुभूतियाँ इस साहित्य में हैं उतनी ही लोक-संस्कृति की छवियाँ भी इसमें अंकित हैं। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—1. पुराणकाव्य 2. चरितकाव्य। शिल्प की दृष्टि से पुराणकाव्य और चरितकाव्य में अन्तर है। पुराणकाव्य में अलौकिकता का विस्तार, अवान्तरकथाओं की भरमार तथा पौराणिक रूढ़ियों की प्रचुरता होती है जबकि चरितकाव्यों में अलौकिकता का संकोच, वस्तुविन्यास में धारावाहिकता और निश्चित योजना, धार्मिकता की जगह लौकिकता का पुट अधिक होता है। अवान्तरकथा का यदि नियोजन है तो वह सप्रयोजन है तथा मूलकथा के उद्देश्य का निर्वाह करने के लिए है। चरितकाव्य का मूलस्वर कथा-काव्य का ही स्वर है। चरितकाव्य अथवा कथाकाव्य की दो धाराएँ हैं—1. रोमाण्टिक चरितकाव्य 2. धार्मिक चरितकाव्य। रोमाण्टिक तथा धार्मिक चरितकाव्यों का समापन लोकोत्तर महान् उद्देश्यों की सिद्धि या साधना में होता है। तथापि रोमाण्टिक चरितकाव्यों में धार्मिक काव्यों की तुलना में कल्पना और मानवी सम्बन्धों की उड़ान कुछ स्वच्छंद है। कथावस्तु अधिक

संवेद्य और सम्बद्ध होती है। धार्मिकता के साथ कथावस्तु में सामाजिक समस्याओं का भी संस्पर्श रहता है। धार्मिक चरित्र को लेकर लिखी काव्य-रचना आध्यात्मिक चरितकाव्य कहलाती है।

अपभ्रंश के मध्यकालीन अर्थात् दसवीं शती¹ के धक्कड़वैश्य², दिगम्बर धर्म अनुयायी³, श्रेष्ठकवि धनपाल⁴ विरचित एकमात्र समीक्ष्य कथाकाव्य “भविसयत्तकहा”⁵ आध्यात्मिक चरितकाव्य है। इस कथाकाव्य में धार्मिक बोधिलता नहीं है। इसमें तो लौकिक जीवन के एक नहीं अनेक मनोरम चित्र गुम्फित हैं। इसका दूसरा नाम ‘सुयपंचमीकहा’ अथवा ‘श्रुतपंचमीकथा’ है।⁶ इसमें ज्ञानपंचमी (कार्तिक शुक्ल 5) के फल-वर्णनस्वरूप भविसयत्त की कथा बाईस संधियों में है। कथा का मूलस्वर व्रत रूप होते हुए भी जिनेन्द्र-भक्ति से अनुप्राणित है। भविसयत्त की कथा वस्तुतः कवि-कृति से पूर्व प्रचलित और लोकप्रिय थी। कविश्री धनपाल ने उसे धार्मिक रंग देकर व काव्यानुकूल परिवर्तन कर सुन्दर बनाया तथा वह धार्मिक वातावरण के कारण जैन परिवारों में ग्राह्य हुई और काव्यसौन्दर्य से जँनेतर समाज में पठनीय बनी।⁷ धनपाल ने यद्यपि इसको ‘कहा’ (कथा) ही कहा है परन्तु यह निश्चित रूप से महाकाव्य की कोटि के अन्तर्गत रखा जा सकता है क्योंकि इसमें प्रायः सभी काव्योपम गुण दृष्टिगत हैं।⁸ डॉ. विटरनिट्ज इसे रोमांचक महाकाव्य स्वीकारते हैं।⁹ प्रस्तुत शोधालेख में समीक्ष्य कथाकाव्य ‘भविसयत्तकहा’ के साहित्यिक महत्त्व का उद्घाटन करना हमें अभीप्सित है।

कथावस्तु

‘भविसयत्तकहा’ एक व्यापारी पुत्र भविसयत्त की कथा है। इसको तीन भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम भाग में काव्य का नायक भविसयत्त के दुष्कर कार्यों, जोखिमों और आक्रामिक घटनाओं का वर्णन है। अपने विश्वासघाती विमातृज बंधुदत्त द्वारा एक निर्जन द्वीप में परित्यक्त भविसयत्त एक वीरान नगर में पहुँचता है और एक देवता की सहायता से एक राजकुमारी का पता पाकर उससे विवाह करके बारह वर्ष सुखपूर्वक व्यतीत करता है। एक समय जब वह मातृभूमि के लिए लालायित है संयोग से उसके विमातृज का जहाज उसी द्वीप में आकर ठहरता है। वह सपत्नीक घर लौटने के लिए प्रस्तुत होता है परन्तु पुनः धोखा खाता है। विमातृज उसे छोड़ उसकी पत्नी को लेकर चल देता है। मणिभद्र यक्ष की सहायता से देवयान द्वारा वह समय पर घर पहुँच जाता है और अपनी पतिव्रता पत्नी को प्राप्त कर लेता है। काव्य के दूसरे भाग में रामायण और महाभारत के ढंग पर कुरराज और तक्षशिला का युद्ध वर्णन है जिसमें भविसयत्त के पराक्रम से कुरराज विजयी होता है तथा तीसरे भाग में प्रधान पात्रों के पूर्वजन्मों की कथाएँ वर्णित हैं। विमलबुद्धि नामक मुनि के उपदेशों से भविसयत्त वैरागी होते हैं तथा अन्त में तप साधना से निर्वाणपद प्राप्त करते हैं। श्रुतपंचमी के माहात्म्य स्मरण के साथ काव्य का समापन होता है।

इस प्रकार प्रस्तुत काव्य के कथानक में आदर्श और यथार्थ का अपूर्व सम्मिश्रण है। कवि ने लौकिक आख्यान के द्वारा श्रुतपंचमी व्रत की महत्ता प्रदर्शित की है। कथा में घटनाओं का विकास सम्बद्ध, स्वाभाविक और संवेदनीय है। कविश्री धनपाल की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह घटनाओं के विन्यास में पात्रों के व्यक्तित्व के विकास का पूरा ध्यान रखते हैं। घटना बाहुल्य के होते हुए भी घटना वैचित्र्य उच्चकोटि का नहीं ठहरता है तथापि काव्य में काव्यानुरूप अनेक सुन्दर स्थल विद्यमान हैं उनमें अप्रतिम प्रवाह है और है अद्भुत निखार। वस्तुतः 'भविसयत्तकहा' पद्य-बद्ध धार्मिक उपन्यास है। मनुष्य की भवितव्यता की प्रतीक कथा है।

चरित्र-चित्रण

समीक्ष्यकाव्य में प्रमुखरूप से साधु और असाधु स्वभाववाले दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्णन परिलक्षित है। भविष्यदत्त और बंधुदत्त, कमलश्री और स्वरूपा दो विरोधी प्रवृत्ति के पुरुष और स्त्री हैं। स्वरूपा में सपत्नी-सुलभ ईर्ष्या के साथ स्त्री-सुलभ दया का कवि द्वारा सफल चित्रांकन हुआ है। काव्यकृति में धनवई, कमलश्री और स्वरूपा के चरित्र प्रमुखता लिये हैं तो नायक भविसयत्त के चरित्र विकास में कवि-कौशल द्रष्टव्य है। भविसयत्त तिलकद्वीप में अकेला व्याकुल भटकता है तत्समय की उसकी मनोदशा का चित्र सजीव और प्रभावक है। यथा—

गयं रिण्फलं ताम सव्वं वणिज्जं हुवं अम्ह गोत्तम्मि लज्जावणिज्जं ।
 ए जत्ता ए वित्तं ए मित्तं ए गेहं ए धम्मं ए कम्मं ए जीयं ए वेहं ॥
 ए पुत्तं कलत्तं ए इट्ठं पि दिट्ठं गयं गयउरे दूरदेसे पइदुठं ।
 खयं जाइ नूणं अहम्मेण धम्मं विण्णट्ठेण धम्मेण सव्वं अकम्मं ॥ 3.26

इस प्रकार यह पहला चरितकाव्य है जिसमें पात्रों के व्यक्तित्व का कुछ स्वतंत्र अस्तित्व है। अपमानित कमलश्री तब तक स्थायी रूप से धनवई के घर नहीं जाती जब तक वह मुआफी नहीं मांग लेता। इसी प्रकार भविष्यदत्त अंगीकार करने से पूर्व पत्नी की परीक्षा लेता है तो दूसरे विवाह से पूर्व वह अपने भावी पति से आशवासन लेना नहीं चूकती। चरित्रचित्रण में मनोवैज्ञानिकता का सन्निवेश इस काव्य की विशेषता है।

वस्तुवर्णन

अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों की कथा के मध्य ऐसे स्थल होते हैं जिनका सम्बन्ध इतिवृत्त से न होकर हृदय की रागात्मक वृत्ति से अधिक होता है। यही स्थल वस्तुवर्णन है।¹⁰ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार ये वस्तुवर्णन दो रूपों में उपलब्ध हैं¹¹—
 1. कवि द्वारा वस्तु व्यंजना के रूप में 2. पात्र द्वारा भाव व्यंजना के रूप में। महाकाव्य के लिए वस्तुवर्णन का जो विधान है उसके भी दो भेद हो सकते हैं¹²—1. प्राकृतिक

वस्तुवर्णन (संध्या, सूर्य आदि का वर्णन) 2. सामाजिक वर्णन (विवाह, युद्ध, यात्रा का वर्णन) । राजशेखर ने इसका विस्तृत रूप से विवेचन किया है ।¹³

प्रस्तुत कथाकाव्य में परम्परामुक्त वस्तुपरिगणन शैली के साथ ही लोक-प्रचलित शैली में भी जन-जीवन का स्वाभाविक चित्रण हुआ है । कवि ने जिन वस्तुओं का वर्णन किया है उनमें उसका हृदय साथ देता है । अतएव ये वर्णन सरस और सुन्दर हैं । देशों और नगरों का वर्णन करता हुआ कवि उनके कृत्रिम आवरणों से ही आकृष्ट न होकर उनके स्वाभाविक, प्राकृत अलंकरणों से भी मुग्ध होता है । कुरुजांगल देश की समृद्धि के साथ-साथ कवि वहाँ के कमलप्रभा से ताम्रवर्ण एवं कारंड-हंस-वकादि चुम्बित सरोवरों को और इक्षुरस पान करनेवालों को भी विस्मरण नहीं करता—

जहि सरइ कमलपहतंबिराइं कारंडहंसवयचुंबिराइं ।
..... पुंडुच्छरसइं लीलइं पियंति ॥ 1.5.8-10

गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि उसके सौंदर्य से आकृष्ट होकर कहता है—

तहि गयउरु रणउं पट्टणु जणजणियच्छरिउ ।
णं गयणु मुएवि सगखंडु महि अयपरिउ ॥ 1.5

कवि ने थोड़े से शब्दों में गजपुर की समृद्धि और सुन्दरता को अभिव्यक्त कर दिया है । कवि के इन विचारों में “वाल्मीकि रामायण” के लंकावर्णन एवं कालिदास के “मेघदूत” में उज्जयिनीवर्णन का आभास स्पष्टरूप से दिखाई देता है । स्वयंभू के “हरिवंशपुराण” में विराटनगर के और पुष्पदंत के “महापुराण” में पोयणनगर के वर्णन में भी यही कल्पना की गई है ।¹⁴ “भविसयत्तकहा” में घनपति एवं कमलश्री के विवाहोत्सव पर भवन की सजावट, तोरणबंधन, रंगोली, चौक, विविध मिष्टान्न, आभूषण आदि की सुव्यवस्थाएं कर प्रीतिभोज का वर्णन किया गया है । प्रीतिभोजोपरांत मंगलमंत्रों एवं घी की आहुति के साथ वरमाला डालकर विवाह की अंतिम प्रक्रिया सम्पन्न की जाती थी ।¹⁵

शासन का कार्य यद्यपि राजा ही करता था किन्तु कभी-कभी उसे जनता की भावना का भी ध्यान रखना पड़ता था । राजा भूपाल जब बंधुदत्त एवं उसके पिता घनपति को कारागार में डाल देता है तब दूत उसे आकर समाचार देता है—“घर-घर में कार्य बंद हो गया है, नर-नारी रुदन कर रहे हैं, बाजार में लेन-देन ठप्प है तथा आपकी मुद्रा का प्रचलन भी बंद है ।” इस परिस्थितिबश अंत में राजा को उन्हें छोड़ देना पड़ता है ।¹⁶

इस प्रकार यह कथाकृति नगर, समुद्र, द्वीप, विवाह, युद्धयात्रा, राजद्वार, ऋतु, शकुन, रूप आदि वस्तुवर्णनों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है ।¹⁷

रस-योजना

कविश्री धनपाल द्वारा "भविसयत्तकहा" में शृंगार, वीर, और शांत रस का मुख्यरूप से समायोजन हुआ है। कमलश्री के सौंदर्यवर्णन के साथ-साथ कवि ने उसकी धार्मिक भावना की ओर भी संकेत किया है। उसके अनुपम सौन्दर्य और सौभाग्य को लखकर कामदेव भी खो जाता है।¹⁸ नख-शिख-वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुकूल ही है।¹⁹ प्रस्तुत काव्यकृति में प्रेमपूर्वक विवाह है पर सम्भोग का खुला चित्रण भी है, सुमित्रा के चंचल सौंदर्य को चित्रित करते हुए कवि कहता है—मानो वह लावण्य जल में तिर रही थी।²⁰ विप्रलम्भ की व्यंजना में यह महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है कि वियोगिनी स्त्रियाँ आंसू ही नहीं बहातीं अपितु कठोरता से अपने कर्तव्य का पालन भी करती हैं। कमलश्री इसका उदाहरण है। युद्धवर्णन में वीर रस के अभिदर्शन होते हैं। यथा—

तो हरिखरखुरग संघट्टितं छाडउ रणुअतोरणे ।
रणं भडमच्छरगिसंधुक्करणे धूम तमंधयारणे ॥ 14.1 4.1-2

कथा का पर्यवसान शांत रस में हुआ है। संसार की असारता दर्शाते हुए कविश्री धनपाल कहते हैं—

अहो नरिद संसारि असारइ तक्खणि विट्ठपणट्ठवियारह ।
पाइवि मणुअजम्मु जणवल्लहु बहुभवकोडिसहांसि दुल्लहु ॥
जो अणुबंधु करइ रइलंपडु तहो परलोए पुणुवि गउ संकडु ।
जइ वल्लहविओउ नउ दीसइ जइ जोक्खणु जराए न विणासइ ॥
18. 13. 1.

प्रकृतिचित्रण

काव्य में अनेक सुन्दर प्रकृतिवर्णन हैं। द्वीप-द्वीपांतर में विचरण के कारण कविश्री धनपाल को प्रकृति के साहचर्य की बड़ी आवश्यकता हुई और उन्होंने उसका वर्णन बखूबी किया है। वन गहनता का एक चित्र द्रष्टव्य है—

विसामंडलं जत्थ णाउं अलक्खं,
पहायं पि जाणिज्जए जन्मि दुक्खं । 4. 3. 2.

अर्थात् वन इतना गहन था कि जहाँ प्रभात का भी कठिनाई से पता चलता था। इसी प्रकार के अन्य प्रकृतिवर्णन जैसे अरण्य का वर्णन,²¹ गहनवन का वर्णन,²² तिलकद्वीप के वन का स्वाभाविक चित्रण²³ एवं सन्ध्या का वर्णन²⁴ दर्शनीय है। प्रकृतिवर्णन में बसन्त राजा ठाट से प्रवेश करते हैं। घर-घर में बसंतोत्सव की धूम मची है। यथा—

घरि घरि मंगलइं पघोसियाइं घरि घरि मिहुराइं परिओसियाइं ।
 घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइं घरि घरि अंदोलयसोहलाइं ।
 घरि घरि कय बत्थाहरणसोह घरि घरि आइइ महाजसोह । 8. 9

इस प्रकार प्रकृतिवर्णन में मानवीय रूपों तथा भावों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है ।

भाषा-सौष्ठव

कविश्री घनपाल की भाषा कसावट तथा संस्कृत शब्दों के प्रति भुकाव होने के कारण साहित्यिक अपभ्रंश है तथा उसमें लोकभाषा का पूरा पुट है अतएव एक ओर जहाँ साहित्यिक वर्णन तथा शिष्ट प्रयोग हैं दूसरी ओर वहाँ लोक-जीवन की सामान्य बातों का विवरण घरेलू वातावरण में वर्णित है । शब्दों में 'य' श्रुति और 'व' श्रुति का प्रयोग प्रचुर है जैसे कलकल=कलयल, दूत=दूव । विशेषण-विशेष्य के समान वचन के नियम का व्यत्यास भी अग्रहं एत्थु बसन्त हो (3. 11. 7) में दिखाई देता है ।²⁵

कविश्री के द्वारा भाषा को बल देने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का तथा अनेक सूक्तियों और सुभाषितों का प्रयोग उल्लेखनीय है । कतिपय सूक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

1. कि घिउ होइ विरोलिए पारिए । 2.7.8
2. जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चितंतहो । 3.11.5
3. कलुणइ सुमीस करयल मलंति विहुणंति सीस । 3.25.3
4. अगाइच्छियइं होंति जिम दुक्खइं,
सहसा परिणवंति तिह सोक्खइं । 3.17.6
5. जोब्बणवियाररसवसपसरि सो सूरउ तो पंडियउ ।
चलमम्मणवयणुल्लावएहिं जो परितियाहिं ण खंडियउ ॥ 3.18.9
6. परहो सरीरि पाउ जो भावइ तं तासइ वलेवि संतावइ । 6.10.3
7. जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुच्चए सिट्टलोएण वुत्तं ।
सुपायन्नवा कोइवा जत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थसाली । 12.3.24-25

प्रस्तुत काव्य में बहुत से शब्द इस प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं जो प्राचीन हिन्दी कविता में यत्र-तत्र दिखाई दे जाते हैं और कुछ तो वर्तमान हिन्दी में सरलता से खप सकते हैं ²⁶ चाहइ, चुगांति-चुनना, इंदिय खंचहु, च्छइ रस रसोई (पृ. 47), सालि दालि सालणय पियारउ-चावल, दाल और सब्जी (पृ. 47), पच्छिल पहरि (पृ. 59), तहु आगमो चाहहो-उसे आना चाहिये (पृ. 59), राणी, तज्जइ-तजना, चडिउ विमाणु

(पृ. 63), तुरंतउ (पृ. 64), जं बित्तउ—जो बीता (पृ. 65), पप्पडा-पापड (पृ. 84), विहाणि-विहान-प्रातःकाल (पृ. 92) ।

इस प्रकार “भविष्यत्कहा” भाषानुरागियों की दृष्टि से महनीय है ।

संवाद-योजना

इस कथा काव्यकृति में प्रबंधकाव्य के उपयुक्त संवाद योजना हुई है । संवादों की प्रचुरता है । इनमें नाटकीयता, अभिनेयता, वाक्पटुता, कसावट, मधुरता तथा हाव-भावों का प्रदर्शन एवं यथास्थान व्यंग्य का समावेश हुआ है । संवाद कथानक को गतिमान करने के साथ ही वातावरण तथा दृश्य को भी नेत्रों के समक्ष रूपायित कर देते हैं । इन संवादों की कसावट, सरसता तथा मधुरता अपनी विशेषता रखती है । भविष्यदत्त की माता के वात्सल्यपूर्ण उद्गारों के प्रति प्रस्तुत कथन देखिये—

भविष्यत्तु विहसेविणु जंपइ तुम्हहं भीरत्तरिण समप्पइ ।

अइयारिं वामोहु रा किज्जइ समवयजणि पोढत्तणु हिज्जइ ॥ 3.12.1-2

काव्य-रूढ़ियां

कविश्री धनपाल की यह काव्य संरचना कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों से भी समृद्ध है । प्रस्तुत काव्य में निम्न सात काव्य-रूढ़ियां प्रयुक्त हुई हैं । यथा—
1. मंगलाचरण, 2. विनय प्रदर्शन, 3. काव्य रचना का प्रयोजन, 4. सज्जन-दुर्जन वर्णन, 5. वंदना (प्रत्येक संघि के प्रारम्भ में स्तुति या वंदना), 6. श्रोता-वक्ता शैली, 7. अन्त में आत्मपरिचय । उक्त सभी रूढ़ियां ‘संदेशरासक’, ‘पद्मावत’ और ‘रामचरितमानस’ आदि ग्रन्थों में कतिपय परिवर्तन के साथ व्यवहृत हुई हैं ।

अलंकार-योजना

अलंकारों का सहज प्रयोग कवि-कृति में हुआ है । उपमा, परिणाम, सन्देह, रूपक आतिमान, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना और सहोक्ति आदि अलंकार कवि-काव्य में प्रयुक्त हुए हैं ।²⁷ उपमा में मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में उपमान का प्रयोग किया गया है—

विकसइ गिग्गयाउ गयसालउ एं कुलतियउ विग्गसियसीलउ ।

पिक्खइ तुरयवलत्थपएसइं पत्थणभंगाइ व विगयासइं ॥ 4.10.4

नारी-सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

णं वम्महभल्लि विधणसीलज्जवाणजणि ।

5.8.9

इस उपमा से स्पष्ट है कि वह सुन्दरी अत्यन्त आकर्षणशील थी। उपमा का प्रयोग कवि घनपाल ने संस्कृत में बाण के ढंग पर भी किया है।²⁸ ऐसे स्थलों में शब्दगत साम्य के अतिरिक्त अन्य कोई साम्य दो वस्तुओं में नहीं दिखाई देता है यथा—

विह बंधइं जिह मल्लरगराइ रिग्लोहइं जिह मुगिावर मराइ ।
रिगिभण्णइं जिह सज्जणहियाइं अकियत्थइं जिह बुज्जणकियाइं ॥ 3.23.1

उपमा के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं। मूर्त और अमूर्त भाव में साम्य दर्शनीय है यथा—

तेण वि विट्ठु कुमार अकायर,
वडवाणल्लिण नाई रयणायर । 5.18

विरोधाभास अलंकार की अभिव्यक्ति निम्नलिखित स्थल में दृष्टिगत है—

असिरिवसिरिवत्त सजलवरंग वरंगणवि ।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह, निरंजणवि ॥ 11.6.12

निदर्शना अलंकार का निदर्शन भी प्रस्तुत है—

जं सुहु असणोहं रच्चंतए जं सुहु अंधारइ नच्चंतए ।
जं सुहु सिवियांतए पिच्छंतए तं सुहु एत्थु नयरि अच्चंतइ ॥ 6.15.3-4

कविश्री की उर्वर एवं अनुभूतिमयी कल्पना का परिचय अलंकारयोजना में परिलक्षित है। कविश्री घनपाल को उपमा अलंकार विशेष प्रिय है।

छन्द-योजना

विवेच्य कथाकाव्य में वर्णवृत्त और मात्रिक छन्द दोनों का प्रयोग हुआ है परन्तु अधिकता मात्रिक छन्दों की है। वर्णवृत्तों में भुजंगप्रिया, मंदार, चामर तथा लक्ष्मीधर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मात्रिक छन्दों में पञ्चटिका, अडिल्ल, दुवइ, काव्य, पिलेवंगम, सिंहावलोकन, कलहंस तथा गाथा मुख्य हैं।²⁹ इसके अतिरिक्त काव्य में उल्लाल, अभिसारिका, मन्मथतिलका, कुसुमनिरंतरं, विभ्रमविलासित, वदन, नवपुष्पधय, किन्नर, मिथुनविलास, मर्कटी, घत्ता, शंखनारी, मरइट्ठी छन्दों के भी अभिदर्शन होते हैं।³⁰

वस्तुतः अपभ्रंश के प्रबंधकाव्यों की 'कडवकबंध' शैली कवि-काव्य में प्रयुक्त है।

विचार-दर्शन

कविश्री घनपाल की कृति 'भविसयत्तकहा' जिनसिद्धान्तों से अनुप्राणित है। जन्म-जन्मांतर और कर्मसिद्धान्त पर कवि को पूरा विश्वास है।³¹ शकुनों में भी

व्यक्ति आस्थावान हैं। प्रेमी के दूरदेशस्थ होने पर कौए को उड़ाकर उसके वृत्त विदित होने का भाव उल्लिखित है।³² कथा में बहु-विवाह के प्रति अनास्था उद्घाटित हुई है। पोयणपुर के राजा का चरित्र तत्समय के सामंतों के विचार-प्रवाह का प्रतीक है। इस प्रकार लोकपक्ष का सबल जीवन-दर्शन अभिव्यंजित है।

उपर्युक्त विवेचनोपरान्त हम कह सकते हैं कि अपने युग की सामाजिक संस्कृति का उत्कृष्ट चित्रांकन करनेवाले इस काव्य की भाषा महत्त्वपूर्ण है। कवि का वस्तुवर्णन प्रशंस्य है, चरित्र-चित्रण का निर्वाह कुशलतापूर्वक हुआ है। भावाभिव्यंजना और अलंकारों द्वारा अलंकृत समीक्षित काव्य कविश्री की उच्चप्रतिभा, अनुभव और अध्ययन का परिचायक है। अतएव वस्तुविन्यास, चरित्र-चित्रण और वस्तुवादीकोण के कारण 'भविसयत्तकहा' एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक लोकचरित काव्य है।

वस्तुतः कविश्री घनपाल आख्यान-साहित्य के प्रणयन में निरूपमेय हैं। कवि ने इस काव्य को लिखकर परम्परागत ख्यातवृत्त नायक पद्धति को तोड़कर अपभ्रंश में लौकिक नायक की परम्परा का प्रवर्तन किया है। कविश्री स्वयं अपनी कृति को 'चरित्र-कीर्तन' की संज्ञा से अभिहित करते हैं।³³ प्रथम श्रेणी के अपभ्रंश कवियों में कविश्री घनपाल का स्थान महनीय है तथा अपभ्रंश काव्यों में 'भविसयत्तकहा' की ख्याति असंदिग्ध है।

1. (1) हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग 2, श्री नेमीचन्द्र जैन ज्योतिषाचार्य, पृष्ठ 208
- (2) दि पउमचरिउ एण्ड दि भविसयत्तकहा, प्रो. भायाणी, भारतीय विद्या (अंग्रेजी), भाग 8, अंक 1-2, सन् 1947, पृष्ठ 48-50
- (3) आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, डॉ० हरीश, पृष्ठ 5
2. (1) धक्कड वरिणवंसे माएसर हो समुभवणि । (भविसयत्तकहा 22.9)
- (2) जैन शोध और समीक्षा, डॉ० प्रेमसागर, पृष्ठ 87
- (3) अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डॉ० अम्बादत्त पंत, पृष्ठ 220
- (4) प्राचीन जैन लेख संग्रह, सम्पा० मुनि जिनविजयजी, पृष्ठ 86, 95, 122
3. (1) भविसयत्तकहा—16.8, 20.9
- (2) जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 467
4. (1) घनपाल ने स्वयं को सरस्वती का पुत्र कहा है—
“सरसइ बहुलद्ध लहावरेण”—भविसयत्तकहा 1.4
- (2) अपभ्रंश काव्यधारा, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ 12
5. (1) अपभ्रंश कथाकाव्यों की भारतीय संस्कृति को देन, डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, अग्ररचन्द नाहटा अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ 155

- (2) अपभ्रंश प्रवेश, विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृष्ठ 33
- (3) अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ, डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृष्ठ 34
- (4) आर्यभाषाओं के विकासक्रम में अपभ्रंश तथा अन्य निबन्ध, डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', पृष्ठ 17
6. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ० नामवरसिंह, पृष्ठ 212
7. (1) जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह तोमर, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 466
- (2) जैन साहित्य, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ 453
8. (1) हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप तथा विकास, डॉ० शम्भूनाथसिंह, पृष्ठ 186
- (2) अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डॉ० अम्बादत्त पंत, पृष्ठ 155
9. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग 3, डॉ० विटरनिट्ज, पृष्ठ 533
10. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ 180
11. पद्मावत, पृष्ठ 78
12. साहित्य दर्पण, अध्याय 6.322-324
13. काव्यमीमांसा, अध्याय 8
14. अपभ्रंश साहित्य, प्रो० हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 28
15. भविसयत्तकहा—18.10
16. भविसयत्तकहा, पृष्ठ 70, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृष्ठ 276
17. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, प्र०—अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद, सागर, 1974 ई०, पृष्ठ 114
18. भविसयत्तकहा, पृष्ठ 5
19. भविसयत्तकहा, पृष्ठ 32-33
20. भविसयत्तकहा—15.1.7,
21. भविसयत्तकहा—3.24.5
22. भविसयत्तकहा—4.3.1
23. भविसयत्तकहा, पृष्ठ 22
24. भविसयत्तकहा—4.4.3
25. अपभ्रंश साहित्य, प्रो० हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 100

26. अपभ्रंश साहित्य, वही, पृष्ठ 102
27. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 4, पृष्ठ 116
28. अपभ्रंश साहित्य, प्रो० कोछड़, पृष्ठ 100
29. (1) भविसयत्तकहा की भूमिका देखिए विशेष विवरण के लिए ।
 (2) अपभ्रंश काव्य परम्परा और विद्यापति, डॉ० अम्बादत्त पंत, पृष्ठ 228
 (3) अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 102
30. (1) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ० नेमीचन्द्र शास्त्री,
 ज्योतिषाचार्य, पृष्ठ 116
 (2) अपभ्रंश प्रवेश, विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृष्ठ 33
31. भविसयत्तकहा—3.12.12
32. भविसयत्तकहा, पृष्ठ 39
33. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृष्ठ 74



दुर्जन : महाकवि धनपाल की दृष्टि में

परछिद्दसएहि वावारु जासु,
गुणबंतु कर्हिमि किं कोवि तासु ।
अवसइ गवेसइ वरकईहि,
बोसहं अठभासइं महसईहि ।
एककोवि रयणभंजणसमत्थु,
एककोवि करइ वत्थुवि अवत्थु ।
अणुदिणु वासइ दुग्वासवासु,
अप्पणउं रा कोइवि कर्हिमि तासु ।
राउ सक्कइ देखिवि परहो रिद्धि,
राउ सहइ सउरिसहं गुणपसिद्धि ।
जगडंतु भमइं सज्जनहं विन्दु,
विवरीउ गिरंकुसु जिह गइंदु ।

अर्थ—परछिद्धान्वेषण जिसका व्यापार है, जो श्रेष्ठ काव्य में भी अपशब्द ढूंढता है और महासतियों के भी दोष लगाने की जिसकी आदत है, क्या कोई भी कहीं भी उसके लिए गुणवान् हो सकता है? ऐसा एक भी व्यक्ति रात्रिभंग (निद्राभंग) करने में समर्थ होता है, वह वस्तु को भी अवस्तु कर देता है। वह रात-दिन दुर्व्यसनो में लगा रहता है, कोई भी, कभी भी उसका अपना नहीं होता। वह दूसरों की समृद्धि और सत्पुरुषों के गुणों की प्रसिद्धि सहन नहीं करता, वह सज्जनवृन्दों के साथ हाथी की तरह निरंकुश होकर भगड़ता रहता है।

भविष्यदत्तकथा-विषयक साहित्य एक अनुशीलन

—डॉ. कपूरचन्द जैन



भारतीय साहित्य का बहुभाग प्रायः कथात्मक है यद्यपि उसके लिए गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, आख्यायिका आदि अनेक माध्यम अपनाये गये हैं। कथात्मक साहित्य में एक ओर जहाँ तत्कालीन लोक-संस्कृति की झलक मिलती है वहीं दूसरी ओर तत्कालीन प्रचलित जनभाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है।

जैन साहित्य इससे अछूता नहीं है। जैनाचार्यों ने जैन सिद्धान्तों को सरल, सुगम और मनोवैज्ञानिक विधि से समझाने के लिए प्रायः कथात्मक साहित्य का सहारा लिया है। ऐसे साहित्य का पारिभाषिक नाम प्रथमानुयोग¹ है। इस हेतु उन्होंने प्रेरणाप्रद और प्रांजल नैतिक कथाओं का सृजन किया है अतः कथा-साहित्य के माध्यम से उपदेश की जो धारा प्रवाहित होती है उसका प्रभाव स्थायी होता है और व्यक्ति तदनुकूल आचरण करने के लिए व्यग्र हो उठता है।

जैन आगमिक और लौकिक साहित्य में आराध्य होने से त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित विस्तार तथा बहुतायत से तो वर्णित है ही, साथ ही अन्य महापुरुषों के चरित भी कम नहीं लिखे गये हैं। पर्वों और व्रतों का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान होने से उनकी आवश्यकता, प्रयोग, उपयोगिता और महत्त्व को उद्भाषित करता हुआ प्रचुर कथा-साहित्य लिखा गया है।

ऐसे ही व्रतों में “श्रुतपंचमी”, “ज्ञानपंचमी” या “सौभाग्यपंचमी” व्रत महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न कथा-कोषों में इस व्रत-विषयक अनेक कथायें दी गई हैं जिसमें भविष्यदत्त-कथा सबसे महत्त्वपूर्ण और बहु-प्रचलित है। इस कथा को लेकर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भी अनेक स्वतंत्र काव्य लिखे गये हैं जिनका विवेचन प्रस्तुत शोध-निबंध का विषय है।

नाम, स्थानादि कुछ परिवर्तनों के साथ कथा का जो स्वरूप भिन्न-भिन्न साहित्य में मिलता है वह इस प्रकार है—

कुरुजांगल देशीय हस्तिनापुर (गजपुर) नगर में भूपाल (भुवालु) राजा राज्य करता था। नगरसेठ धनपाल (धनपति) का सेठ धनेश्वर की रूपवती कन्या “कमलश्री” से विवाह हुआ। कुछ काल बाद उनके भविष्यदत्त नाम का पुत्र हुआ।

धनपति ने सरूपा नाम की एक दूसरी कन्या पर आसक्त होकर उससे विवाह कर लिया जिससे बंधुदत्त नाम का पुत्र हुआ। फलतः कमलश्री उपेक्षित होकर अपने पिता के पास चली गई।

बंधुदत्त पांच सौ व्यापारियों के साथ व्यापारार्थ निकला। माँ की आज्ञा से भविष्यदत्त भी साथ हो लिया। बंधुदत्त की माँ ने भविष्यदत्त को रास्ते में मारने की सलाह दी। फलतः मदनाग, मैनाह या मदनद्वीप पर भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर बंधुदत्त आगे बढ़ गया।

भविष्यदत्त भटकता हुआ एक उजड़े किन्तु समृद्ध नगर में पहुँचा। वहाँ एक असुर जो भविष्यदत्त का पूर्वजन्म का मित्र था और जिसने नगरी को उजाड़ा था, भविष्यदत्त का विवाह भविष्यानुरूपा या तिलका-सुन्दरी नाम की एक दिव्य सुन्दरी से करा देता है। चन्द्रप्रभ जिनालय में भविष्यदत्त चन्द्रप्रभ जिन की पूजा करता है।

इधर पुत्र के लौटने में विलम्ब होने से चिन्तित कमलश्री पुत्र-कल्याणार्थ सुव्रता आधिका से श्रुतपंचमी व्रत लेकर उसका पालन करती है, उसी व्रत के प्रभाव को बताने के लिए यह कथा लिखी गई है।

प्रचुर सम्पत्ति और पत्नी के साथ भविष्यदत्त घर लौटता है। बंधुदत्त भी सभी व्यापारों में असफल होकर विपन्नावस्था में लौटता है। रास्ते में दोनों की भेंट होती है, भविष्यदत्त बंधुदत्त की सहायता करता है और प्रस्थान-पूजा करने नगर में जाता है (कुछ के अनुसार भविष्यानुरूपा अपनी अंगूठी सेज पर छोड़ आई थी जिसे लेने भविष्यदत्त नगर की ओर जाता है), तभी छल से बंधुदत्त जहाज चलवाकर चल पड़ता है। रास्ते के आये तूफान को पारकर किसी प्रकार हस्तिनापुर पहुँच जाता है और भविष्यानुरूपा को अपनी भावी पत्नी बताकर विवाह-तिथि की घोषणा कर देता है।

भविष्यदत्त भी पूर्व असुर की सहायता से हस्तिनापुर पहुँचता है और मामा के साथ भूपाल राजा से बंधुदत्त की शिकायत करता है। राजा भविष्यदत्त को भविष्यानुरूपा को लौटाने तथा उसके साथ अपनी पुत्री सतारा या सुमित्रा के विवाह की घोषणा करता है और इसके साथ ही आधा राज्य भी भविष्यदत्त को देता है। निर्मलबुद्धि मुनि से पूर्वभव सुनकर दीक्षा ले, तप कर भविष्यदत्त सातवें स्वर्ग में देव होता है। व्रत के प्रभाव से धनपति कमलश्री से क्षमा मांगता है। कमलश्री यथायोग्य तप कर स्वर्गादि प्राप्त करती है।

कुछ कथाओं में इतनी कथा और है—जब भूपाल राजा बंधुदत्त को देश निकाला देता है तब वह पोदनपुर के राजा युगराज के दरबार में पहुँच कर भविष्यानुरूपा तथा सतारा का सौन्दर्य वर्णन कर उन्हें प्राप्त करने के लिए युगराज को भड़काता है। युगराज युद्धार्थ निकल पड़ता है।

भविष्यदत्त की वीरता और कौशल से भूपाल की विजय होती है। भविष्यानुरूपा के दोहद की इच्छा से सभी मैनाक पर्वत पर जाकर वापिस आते हैं। समाधिगुप्त मुनिराज से पूर्वभव सुनकर भविष्यदत्त दीक्षा ले तप कर निर्वाण प्राप्त करता है। अन्य भी यथायोग्य स्वर्गादि प्राप्त करते हैं। श्रुतपंचमी व्रत के माहात्म्य तथा अन्तिम मंगल के साथ कथा समाप्त हो जाती है।

इस कथा को आधार बनाकर लिखे गये ग्रंथों का विवेचन निम्नवत् है—

नाराणपंचमीकहा²

इसके 'पंचमीकहा' और 'भविष्यदत्ताख्यान' ये दो नाम और मिलते हैं। इसके रचयिता महेश्वरसूरि के सम्बन्ध में निम्न प्रशस्ति उपलब्ध है—

दोषक्लुज्जोयकरो दोसासंगेण वज्जिओ अभओ ।
सिरिसज्जण उज्झाओ अउव्वचंउव्व अक्खत्थो ॥
सीसेण तस्स कहिया दस विकहाणा इमे उ पंचमिए ।
सूरिमहेसरएणं भवियाण बोहण्ठाए ॥³

उक्त प्रशस्ति के अनुसार कर्त्ता महेश्वरसूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे। इसकी पुरानी ताड़पत्रीय प्रति वि. सं. 1109 की उपलब्ध है अतः महेश्वरसूरि का समय अधिक से अधिक ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी माना जाना चाहिए। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री⁴, डॉ. गुलाबचंद चौधरी⁵ डॉ. जगदीशचन्द्र जैन⁶ आदि विद्वानों ने महेश्वर का यही काल स्वीकार किया है।

महेश्वरसूरि संस्कृत और प्राकृत के अप्रतिम विद्वान् थे। उनका कथन है कि अल्पबुद्धि लोग संस्कृत कविता नहीं समझते अतः प्राकृत काव्य की रचना कर रहा हूँ।

सारे ग्रन्थ की भाषा अर्धमागधी है और उसमें कहीं-कहीं अपभ्रंश का प्रभाव है।⁷ इसमें श्रुतपंचमी का माहात्म्य बताने वाली जयसेणकहा, नन्दकहा, भद्राकहा, वीरकहा, कमलाकहा, गुणागुरागकहा, धरणकहा, देवीकहा, विमलकहा और भविसयत्तकहा ये दस कथायें हैं। यह व्रत कार्तिक शुक्ला पंचमी को होता है। इस दिन शास्त्रों के पूजन, अर्चन, सम्मार्जन, लेखन आदि का विधान किया गया है।

महेन्द्रसूरि लिखित भविष्यदत्तकथा तथा भविष्यदत्ताख्यान नामक दो कथाओं का उल्लेख जिनरत्नकोष⁸ में किया गया है पर डॉ. चौधरी का कथन है कि महेश्वरसूरि को ही भूल से महेन्द्रसूरि लिखा गया है।⁹ उचित भी यही प्रतीत होता है।

उक्त कथाओं में अन्तिम कथा को लेकर अपभ्रंश और संस्कृत में पर्याप्त काम हुआ है। लगभग सभी आलोचक यह स्वीकार करते हैं कि इसी कथा को मूलाधार बनाकर धनपाल ने 'भविसयत्तकहा' काव्य लिखा।

भविसयत्तकहा

इस काव्य के लेखक धनपाल हैं। धनपाल नाम के चार कवियों का उल्लेख जैन साहित्य में देखने को मिलता है। प्रथम धनपाल उक्त काव्य के लेखक हैं (आगे इनके सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया जायगा)। दूसरे धनपाल फर्रुखाबाद जिले के सांकाश्य में जन्म लेनेवाले काश्यपगोत्री ब्राह्मण देवर्षि के पौत्र और सर्वदेव के पुत्र थे। संस्कृत और प्राकृत दोनों पर ही इनका असाधारण अधिकार था। इन्होंने "तिलकमंजरी" और "पाइग्रलच्छीनाममाला" नामक ग्रंथों की रचना की है। तिलकमंजरी न केवल जैन या संस्कृत-साहित्य अपितु विश्व-साहित्य की बेजोड़ कथा-रचना है। इनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शती स्वीकार किया गया है।¹⁰ ये श्वेताम्बराचार्य थे।

तीसरे धनपाल "तिलकमंजरी कथासार" के लेखक हैं। इस ग्रंथ में यद्यपि तिलकमंजरी की ही कथा है, पर कुछ परिवर्तन भी किये गये हैं। अणहिल्लपुर के पल्लीवाल कुल में उत्पन्न आमन कवि के ये पुत्र थे। आमन ने नेमिचरित नामक महाकाव्य की रचना की है। उक्त ग्रंथ कार्तिक सुदि 8 वि. सं. 1,261 को समाप्त हुआ¹¹ अतः इनका समय विक्रम की 13 वीं शती मानना चाहिये। ये दिगम्बर जैन थे। चौथे धनपाल "बाहुबलि-चरित" के लेखक हैं। इस ग्रंथ की प्रति आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर तथा श्रीमहावीरजी में सुरक्षित है।¹² इनका स्थान पल्हणपुर था। पिता का नाम सुहृडदेव और माता का सुहृडादेवी था। इनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शती है।¹³

भविसयत्तकहा के लेखक धनपाल धक्कड़ नामक वणिक वंश में उत्पन्न हुए। पिता का नाम माएसर और माता का धनश्री था। इन्होंने अपनी गुरु-परम्परा आदि का उल्लेख नहीं किया है। जैकोबी तथा डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री आदि आलोचकों ने सैद्धांतिक विवेचन के आधार पर इनका दिगम्बर मतानुयायी होना सिद्ध किया है।¹⁴ डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

ने धनपाल का समय यद्यपि 14 वीं शती बताया था पर डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इनका समय 10 वीं शती स्वीकार किया है¹⁵ जो असमीचीन नहीं है।

इसका दूसरा नाम "सुयपंचमीकहा", "ज्ञानपंचमीकहा" या "पंचमीकहा" भी है। भविसयत्तकहा का सर्वप्रथम प्रकाशन जैकोबी ने रोमन लिपि में 1918 में किया। इसके बाद स्व. सी. डी. दलाल तथा पी. डी. गुणे ने गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में नागरी लिपि में 1923 में किया।¹⁶

धनपाल की उक्त एक ही रचना प्राप्त है। इसे महाकाव्य के गुणों से पूर्ण होने पर भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता यतः इसमें जीवन की अनुभूतियों का वैविध्य नहीं है, विस्तृत कथा होने पर भी महाकाव्य जैसी उदात्त-शैली नहीं है। जैनधर्म के आदर्शों के अनुकूल ही अंगी रस शांत है तथा अपकार का कठोर बदला नहीं दिलाया गया है (बंधुदत्त के संदर्भ में)। इसमें लोकजीवन के विविध रूप दिखाई देते हैं। कुछ प्रसंग बड़े मार्मिक बन पड़े हैं यथा बंधुदत्त द्वारा भविष्यदत्त को मैनाग द्वीप में अकेला छोड़ना, कमलश्री को भविष्यदत्त के न आने का समाचार मिलना और उसका विलाप करना, अन्त में मिलन आदि। अलंकृत भाषा में गजपुर का वर्णन द्रष्टव्य है—

“तर्हि गयउरु एाऊं पहणु जणजणियच्छरिऊ ।
 एणं गयणु मुएवि सनाखंडु महि अवयरिऊ ॥
 तं गयउरु को वण्णएणहं समस्थु जं वुहइह मंडलु एणं पसत्थु ।
 जं भुत्तु मउड-कुंडल धहेहिं, मेहे साराइ बहु पारवरेहिं ॥”

भविसयत्तचरिउ

अपभ्रंश में ही श्रीधर ने 'भविसयत्तचरिउ' की रचना की। पं. परमानन्द शास्त्री ने सात श्रीधरों का उल्लेख किया है जो संस्कृत और अपभ्रंश के लेखक हैं।¹⁷ श्री हरिवंश कोछड ने पासणाहचरिउ, सुकुमालचरिउ और भविसयत्तचरिउ का रचयिता एक ही श्रीधर को माना है¹⁸ पर डॉ० शास्त्री ने तीनों के रचयिता अलग-अलग स्वीकार किये हैं।¹⁹ पासणाहचरिउ के रचयिता श्रीधर अग्रवाल गोत्रीय बुधगोल्ह और वील्हादेवी के पुत्र थे।²⁰ द्वितीय श्रीधर मुनि थे और "विबुध" उनकी उपाधि थी।²¹ तृतीय श्रीधर का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता।

द्वितीय श्रीधर उक्त ग्रन्थ के रचयिता हैं। उन्होंने अपने रचनाकाल का उल्लेख किया है, तदनुसार वि. सं. 1200 फा. शु. दशमी रविवार को यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।²² अतः इनका समय 12-13 वीं शती माना जाना चाहिये। इसकी प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में प्राप्त है।

यह 1530 श्लोक प्रमाण है। अष्टाश की कडवक पद्धति में पद्धतिया छंद में यह लिखा गया है। इसकी रचना कवि ने चन्द्रवाड नगर में माथुरवंशीय नारायण के पुत्र सुपट्ट साहू की प्रेरणा से उनकी माता के निमित्त की थी। पुष्पिका वाक्य में इसका उल्लेख हुआ है।²³

इसकी कथा में थोड़ा परिवर्तन है यथा-कमलश्री को पहले पुत्र नहीं हुआ, मुनिनिन्दा के कारण धनपति ने कमलश्री को त्यागा, बंधुदत्त द्वारा भविष्यानुपूर्णा से विवाह की चर्चा किये जाने पर वह मरना चाहती है, वनदेवी स्वप्न में मिलन की बात कहती है आदि। इसमें छह परिच्छेद हैं। मर्मस्पर्शी स्थल और प्रकृति-चित्रण अनूठा है, संवाद रोचक और सहृदयहृदयावर्जक हैं। कमलश्री का एक चित्र है—

“ता भणइं किसोयरि कमलसिरि ए करमि कमल मुहुल्लउ ।
पर सुमरंति हे सुउ होइ महु फुट्ट ए मण हियउल्लउ ॥
रोवइ धुवइ एयण चुव अंसुव जलधारहि वत्तओ ।
भुक्खइं खीण वेह तण्हाइय ए मुरणइं मल्लिण गत्तओ ॥”

भविसयत्तचरिउ

अष्टाश में ही रङ्घू ने भविसयत्तचरिउ की रचना की। रङ्घू के पिता का नाम हरिसिंह और माता का विजयश्री था, सावित्री उनकी पत्नी थी। उदयराज नामक उनका एक पुत्र हुआ। ये पद्मावती पुरवाल वंशीय काष्ठासंघ माथुरगच्छ की पुष्करणीय शाखा से संबद्ध थे। डॉ. नेमिचन्द शास्त्री, डॉ. राजाराम जैन आदि ने इनका निवासस्थान ग्वालियर सिद्ध किया है। डॉ. जैन ने रङ्घू साहित्य के अध्ययनोपरान्त निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—

1. रङ्घू ने भट्टारक गुणकीर्ति को अपना गुरु माना है।
2. उनके रचनाकाल की पूर्वविधि वि. सं. 1457 है।
3. इन्होंने भट्टारक शुभचन्द्र तथा राजा कीर्तिसिंह (डूंगरसिंह के पुत्र) के बाद की घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है। कीर्तिसिंह का अन्तिम उल्लेख वि. सं. 1536 का है अतः रङ्घू को वि. सं. की 15-16वीं शती का महाकवि मानना चाहिये।

डॉ. राजाराम जैन ने उनकी 37 कृतियों का पता लगाया है।²⁴ भविसयत्तचरिउ भी उनमें एक है। यह उक्त कथा के आधार पर लिखी गयी है।

भविष्यदत्तचरित्र

विक्रम की 17वीं शताब्दी में आनन्दमेरु के प्रशिष्य और पद्ममेरु के शिष्य पद्मसुन्दर ने संस्कृत में भविष्यदत्तचरित्र लिखा। कवि की अन्य दूसरी रचनाओं में प्रसिद्ध महाकाव्य ‘रायमल्लाम्युदय’ है। भविष्यदत्तचरित्र का रचनाकाल वि. सं. 1614 लिखा है। अतः पद्मसुन्दर का समय सत्रहवीं शती मानना चाहिये। श्री नाथूराम प्रेमी ने फा. शु. सप्तमी वि. सं. 1615 की लिखित भविष्यदत्तचरित्र की अपूर्ण प्रति ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन

में होने का उल्लेख किया है। प्रकृत कृति में भविष्यदत्त की कथा 5 सर्गों या परिच्छेदों में विभक्त है।²⁵

भविष्यदत्त चरित्र^{26a}

वि. सं. की 17-18वीं शताब्दी में ही उपाध्याय मेघविजय ने उक्त कृति का निर्माण किया। मेघविजय व्याकरण, ज्योतिष और तर्कशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे तपागच्छीय कृपाविजय के शिष्य थे। उनकी ग्रंथ प्रशस्तियों के अनुसार ही उनका समय सन् 1652-1703 के बीच है। मेघविजय की अन्य रचनाओं में 'सप्तसन्धान', 'देवानन्द महाकाव्य' और 'युक्तिप्रबोध' नाटक प्रमुख हैं।^{26b}

भविष्यदत्तचरित्र 22 अधिकारों में विभक्त है। बीच-बीच में हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि के सुभाषित दिये गये हैं। कुछ विद्वानों ने इसे धनपाल कृत 2000 गाथा-प्रमाण अपभ्रंश भविसयत्तकहा का संस्कृत रूपान्तर माना है।²⁷

भविष्यदत्तबन्धु कथा

शक सं 1700 के आसपास दयासागर ने मराठी भाषा में 'भविष्यदत्तबन्धुकथा' एतद्विषयक ग्रंथ लिखा। दयासागर की अन्य रचनाओं में जम्बूस्वामीचरित और सम्यक्त्वकौमुदी उल्लेखनीय है।²⁸

भविष्यदत्तरास

राजस्थानी की रास-परम्परा में ब्रह्म जिनदास ने 'भविष्यदत्तरास' रचा। ब्रह्म जिनदास संस्कृत के भी अच्छे विद्वान् थे। उनकी संस्कृत की 12 और राजस्थानी की 53 रचनाओं का उल्लेख डॉ. शास्त्री ने किया है।²⁹ ब्रह्म जिनदास सरस्वती गच्छ के भट्टारक सकलकीर्ति के कनिष्ठ भ्राता और शिष्य थे। इनकी माता का नाम शोभा तथा पिता का नाम कर्णसिंह था। ये धनी और समृद्ध थे। इनका निवासस्थान पाटन था। इनका समय विक्रम की 15-16वीं शती स्वीकार किया गया है।

भविष्यदत्त चौपाई

हिन्दी पद्यों में उक्त ग्रन्थ की रचना ब्रह्म रायमल्ल ने की। इसका रचनाकाल कार्तिक शुक्ल 14 वि. सं. 1633 है। इसकी प्रति भट्टारक ग्रन्थ भण्डार नागौर में है।³⁰

भविष्यदत्त तिलकासुन्दरी नाटक

उक्त नाम से हिन्दी में नाटक की रचना प्रसिद्ध नाटककार श्री न्यामतसिंह जैन, हिसार ने की। यह 1927 में प्रकाशित हुआ। श्री जैन ने हिन्दी की नौटंकी शैली में ग्रन्थ भी अनेक नाटक रचे जो आज भी मंचों पर बड़े चाव से खेले जाते हैं।

भविष्यदत्त तिलकासुन्दरी कथा

उक्त नाम से भविष्यदत्तकथा को संक्षिप्त कर श्री राधामोहन जैन ने 1976 ई. में प्रकाशित किया।³¹ इसकी भाषा सरल, सरस और बच्चों के लिए भी बोधगम्य है।

भविष्यदत्तकथा के ज्ञानपंचमी, पंचमी, सौभाग्यपंचमी या श्रुतपंचमी कथा से सम्बद्ध होने के कारण एतद्विषयक रचनाओं में भविष्यदत्तकथा का होना बहुत सम्भव है। उक्त पंचमी कथा से सम्बन्धित रचनाएं निम्न हैं—

1. ज्ञानपंचमी कथा-तपागच्छीय	श्री देवविजयगणि	सं. 1656 ³²
2. ज्ञानपंचमी कथा	धनकड़	1705 ³³
3. ज्ञानपंचमी कथा	जिनहर्ष	समय अज्ञात ³⁴
4. ज्ञानपंचमी कथा	सुन्दरगणि ³⁵	
5. ज्ञानपंचमी कथा	मुक्तिविमल ³⁶	
6. ज्ञानपंचमी कथा	अज्ञात ³⁷	
7. सौभाग्यपंचमी कथा	अज्ञात ³⁸	
8. पंचमी कथा	अज्ञात ³⁹	
9. पंचमी कथा	पाशर्वचन्द्र ⁴⁰	
10. पंचमी कथा	तपागच्छीय मेघविजय ⁴¹	
11. कार्तिक सौभाग्य पंचमीकथा	मंजुसूरि ⁴²	
12. ज्ञानपंचमी, पंचमी, कार्तिक शुक्ल पंचमी माहात्म्य या सौभाग्य पंचमी कथा	श्री विजयसूरि के शिष्य तपागच्छीय कनककोशल	वि. सं. 1655 ⁴³
13. ज्ञानपंचमी कथा	दानचन्द्र	1700 ⁴⁴
14. सौभाग्यपंचमी कथा	उपाध्याय क्षमाकल्याण	सं. 1829-65 ⁴⁵

इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि भविष्यदत्त की कथा जैन कथाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसको आधार बनाकर इतने ग्रन्थों का रचा जाना इसकी लोकप्रियता को इंगित करता है।

यह कथा किसी अनुसंधान प्रेमी की बाटजोह रही है। अनुसंधान कर्त्ताओं और कारयिताओं को इस ओर दत्तावधान होना चाहिये।

-
1. प्रथमानुयोगमर्थास्थानं चरितं पुराणमपिपुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥

2. डॉक्टर अमृतलाल गोपाणी द्वारा 1949 ई में सिधी जैन ग्रंथमाला में प्रकाशित ।
3. नाणपंचमीकहा, प्रकाशक उक्त, 10.496-497 गाथा
4. हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आ. अ., वैशाली, 1965, पृष्ठ-74
5. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-6, डॉ. गुलाबचंद चौधरी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम वाराणसी-1973, पृ. 366
6. प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ. जगदीशचंद जैन, वाराणसी, 1961 पृष्ठ-440
7. वही, पृष्ठ-440
8. जिनरत्नकोष, पूना, 1944, पृष्ठ-293
9. जैन साहित्य का वृ. इ., भाग-6, पृष्ठ-366
10. जैन साहित्य और इतिहास, प्रेमी बम्बई, 1942, पृष्ठ-469
11. वही, पृष्ठ-741
12. आम्रेश शास्त्र भण्डार के ग्रन्थों की सूची, प्र. सं., पृ. 138-147
13. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, सागर, 1974, भाग-4, पृष्ठ214
14. वही-पृष्ठ112 (तथा जैन साहित्य और इतिहास, प्रेमी, पृष्ठ467-68)
15. वही, पृष्ठ 113-114
16. जै. सा. और इ., प्रेमी, पृष्ठ-467
17. अनेकान्त, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, वर्ष 8 किरण 12, पृष्ठ-462
18. अपभ्रंश-साहित्य, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, पृष्ठ-210
19. ती. म. और उ. आ. प. भाग-4, पृष्ठ-137
20. पासणाहचरिउ प्रशस्ति ।
- 21-22. ती. म. और उ. आ. प., भाग-4, पृष्ठ-145-46
23. 'इय सिरि भविसयत्तचरिए विबुह सिरिसुकइ सिरिहर बिरएइ साहुणारायण-भज्जा-रूपिणि-णामाकिण भविसयत्त-उप्पत्तिवणणो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो ॥'
24. रङ्घू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, 1972, पृ. 120
25. ती. म. और उ. आ. प., भाग-4, पृष्ठ-82-83
26. अ-देखिए लेखक का 'जैन संस्कृत नाटक और नाटककार' शीर्षक लेख, परिषद् पत्रिका (वि. रा. परिषद्, पटना) अप्रैल 1981, पृ. 32
ब-हिम्मत ग्रंथमाला, अंक 1 में पं. मफतलाल भूवेरचन्द्र गांधी द्वारा सम्पादित, गुजराती अनुवाद, अहमदाबाद से प्रकाशित ।
27. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-441

28. ती. म. ओर उ. आ. प., भाग-4 पृष्ठ-322
29. वही, भाग-3 पृ. 340
30. भट्टारकीय ग्रंथ भण्डार नागौर, पाण्डुलिपि सूची,
श्री पी. सी. जैन, जयपुर 1981, पृ. 82
31. भविष्यदत्त तिलकासुन्दरी, राधामोहन जैन, प्रकाशक-जैन साहित्य सदन, दिल्ली-6,
जनवरी-1976
32. जिनरत्नकोष, पृष्ठ 148
33. वही, पृ.-148
34. 35 वही, पृष्ठ-148
36. वही, प्रकाशित-जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद 1916
37. से 44 जिनरत्नकोष पृ. 85, 148, 226, 341
45. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-6, पृष्ठ-367



अपभ्रंश का शिखर महाकाव्य

भविसयत्तकहा

—डॉ० श्रीरंजन सुरिदेव



दसवीं शती के अपभ्रंश-महाकवि धनपाल द्वारा रचित 'भविसयत्तकहा' (भविष्यदत्तकथा) अपभ्रंश के पांक्तेय महाकाव्यों में अन्यतम है। इसकी प्रारम्भिक भूमिका से ज्ञात होता है कि धनपाल ने अपने जन्म से धक्कड़ (धाकड़) वैश्यकुल को गौरवान्वित किया था। उनके पिता का नाम मायेश्वर और माता का नाम धनश्री था। सहज विद्याभिमान के कारण वह अपने-आप को 'सरस्वती का वरद पुत्र' (सरसइ बहुलद्ध महावरेण, 1.4) कहते थे।

'भविसयत्तकहा' की भाषा प्राचीन अपभ्रंश है। यही कारण है कि इसके शाब्दिक प्रयोगों में बहुरूपता और व्याकरण की शिथिलता परिलक्षित होती है। शब्दों में 'य' और 'व' श्रुति (करतल=करयल, कलकल=कलयल, दूत=दूव आदि) का प्रयोग प्राचुर्य तथा विशेष्य और विशेषण में लिंग और वचन का विपर्यास भी दृष्टिगत होता है। फिर भी भाषा का समग्रात्मक रूप साहित्यिक अपभ्रंश है।

'भविसयत्तकहा' की लोकोक्ति, वाग्धारा एवं सूक्तिबहुल भाषा में विभिन्न मुहावरों और कथावर्तों के प्रयोग से सरसता का समावेश तो हुआ ही है, लोकजीवन का माधुर्य भी महनीय हो उठा है। लोकजीवन में सर्वप्रचलित कथावत "पानी मथने से क्या घी निकल

सकता है ?” का प्रयोग धनपाल ने बड़ी सुष्ठुता से किया है—“किं घिउ होई विरोलिए पाणिए ?” (2.7.8) यहां मथने के अर्थ में ‘विरोलिए’ का प्रयोग जनपदीय जीवन के अधिक निकट है। ‘विरोलना’ क्रिया अस्त-व्यस्त करने की ओर संकेत करती है जो ‘मथना’ क्रिया से अधिक अर्थगर्भ है। ज्ञातव्य है, ‘मथना’ के लिए अपभ्रंश में ‘महना’ शब्द अधिक प्रचलित है किन्तु महाकवि धनपाल ने ‘विरोलना’ का प्रयोग कर इसे और अधिक अर्थव्यंजक बना दिया है। स्वयम्भू कवि की अपभ्रंश-रामायण ‘पउमचरिउ’ से प्रभावित गोस्वामी तुलसीदास ने भी इस संदर्भ में अपने ‘मानस’ में मथना क्रिया का ही प्रयोग किया है—“वारि मथं बरु होय घृत।”

इसी प्रकार एक कहावत जनप्रचलित है कि लाभ के ऊहापोह में मनुष्य अपना मूल भी गंवा बैठता है। इसे अपभ्रंश के महाकवि धनपाल ने अपनी मौलिकता के साथ कहा—“जंतहो म्लु वि जाइ लाहु चितत हो” (3.11.5) यहाँ नष्ट होने के अर्थ में ‘जंतहो’ का प्रयोग ध्यातव्य है। ‘जंतहो’ शब्द ‘यन्त्रित’ का ही विकसित रूप है। जांते (चक्की) आदि से दबकर पिस जाना, कुचल जाना या चूर्ण-विचूर्ण हो जाने को ‘जंताना’ कहते हैं। धनपाल के ‘जंतहो’ प्रयोग में न केवल अर्थगर्भता है अपितु, लौकिक प्रयोग की रमणीयता भी है।

धनपाल ने कहावतों के अतिरिक्त ‘हाथ मलने’, ‘सिर धुनने’ आदि मुहावरों का भी प्रयोग किया है—

कलुणइ सुमीस करयल मलंति विहुणंति सीस ।

3.25.3

अर्थात्, “करुणा से संबलित हो हाथ मलते हैं और सिर धुनते हैं।” यहां ‘संबलित’ के अर्थ में ‘सुमीस’=सम्मिश्र और ‘धुनते हैं’ के अर्थ में ‘विहुणंति’=विधूनयन्ति का प्रयोग अधिक सम्प्रेषणीय बन गया है। और फिर ‘मलंति’ तो बिल्कुल जनपदीय प्रयोग है। कहना न होगा कि महाकवि धनपाल की अर्थगर्भ विम्बात्मक शब्दयोजना की द्वितीयता नहीं है जिसकी सुचारुता से ‘भविसयत्तकहा’ की पंक्ति-पंक्ति अ्रोत-प्रोत है।

सूक्तियों के सम्यक्प्रयोग से तो महाकवि धनपाल के कालजयी महाकाव्य ‘भविसयत्तकहा’ का भाषिक वैभव सातिशय मोहक बन गया है। इस वैभव का आहरण कर न केवल प्राचीन हिन्दी को समृद्धि प्राप्त हुई है अपितु, वर्तमान हिन्दी भी अपने को ततोऽधिक वैभवशाली बना सकती है। महाकवि धनपाल भाग्यवादी नहीं अपितु, पुरुषार्थवादी हैं, जिसे उन्होंने निम्नांकित सुभाषित के द्वारा आबर्जक अभिव्यक्ति प्रदान की है—

दइवायत्तु जइवि विलसिब्वउ,

तो पुरिसि ववसाउ करिब्वउ ।

अर्थात् यद्यपि सब कर्म देवाधीन हैं तथापि मनुष्य को अपना उद्योग तो करना ही चाहिए ।

इसी प्रकार महाकवि धनपाल की मान्यता है कि जैसे दुःख अनिच्छा या यदृच्छा से आता है, वैसे ही सुख भी सहसा आ जाता है—

अणइच्छयइं होंति जिम दुक्खइं,
सहसा परिणवन्ति तिह सोक्खइं । 3.17.8

परस्त्री के प्रति आसक्ति की वर्जना भारतीय नीति के प्रमुख सिद्धान्तों में अन्यतम है । इसी तथ्य को महाकवि धनपाल ने 'भविसयत्तकहा' में ततोऽधिक प्रभावकता के साथ उपस्थापित किया है—

जोक्खणवियाररसवसपसरि सो सूरउ सो पंडियउ ।
चलमम्मणवयणुल्लावएंहि जो परतियाहं ण खंडियउ ॥ 3.18.9

अर्थात्, वही शूर है और वही पण्डित भी है, जो यौवन-विकारों के प्रसार की स्थिति में रागवश परस्त्रियों के चंचल कामोद्दीपक वाग्विलास से खण्डित (प्रभावित) नहीं होता ।

इसी प्रकार, लोकनीति यह है कि मनुष्य पापदृष्टि होने की अपेक्षा पुण्यदृष्टि बने । इसीलिए महाकवि धनपाल कहते हैं कि जो किसी दूसरे के प्रति पापाचार की भावना रखता है वह पाप उलटकर उसे ही सन्तप्त करता है—

परहो सरीरि पाउ जो भावइ,
तं तासइ वलेवि संतावइ । 6.10.3

कहना न होगा कि 'भविसयत्तकहा' में इस प्रकार के प्रभावकारी सुभाषितों का बृहद् आकलन उपलब्ध होता है जिन्हें स्वतन्त्ररूप से एकत्र किया जाय तो अपभ्रंश साहित्य की ओर से समग्र भारतीय वाङ्मय के लिए सारस्वत अवदान के रूप में एक महार्थ सुभाषितावली सुलभ हो जाय ।

सुभाषितों के अतिरिक्त 'भविसयत्तकहा' में लोकविश्वास और लोकरूढ़ि से सम्बद्ध विविध तथ्यों का भी विपुल विन्यास हुआ है । पुनर्जन्म, कर्मसिद्धान्त, शकुनशास्त्र, लोकसंस्कार एवं अलौकिक घटनाओं आदि के अध्ययन-अनुशीलन की दृष्टि से तो यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति का महार्णव ही है ।

यह महाकाव्य काव्यशास्त्रीय अलंकारों के अध्ययन की दृष्टि से भी आकर-ग्रंथ की महत्ता को आयत्त करता है । उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास आदि अर्थालंकारों

के प्रयोग तो अतिशय हृदयावर्जक बन पड़े हैं। उपमानों के प्रयोग में तो महाकवि धनपाल ने प्रस्तुत को अप्रस्तुत और अप्रस्तुत को प्रस्तुत, अर्थात् मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त रूप देने में ततोऽधिक कारुकारिता से काम लिया है। उपमा का एक प्रायोदुर्लभ उदाहरण द्रष्टव्य है—

द्विखण्ड शिगयाउ गयसालउ,
 णं कुलतियउ विणासियसीलउ ।
 पिखण्ड तुरयबलत्थपएसइं,
 पत्थराभंगाइ व विगयासइं । 4.10.4

अर्थात् उसने गजरहित गजशालाओं को देखा जो उसे शीलरहित कुलीन स्त्रियों के समान प्रतीत हुईं और अश्वरहित अश्वशालाएँ ऐसी दिखाई पड़ीं जैसे आशारहित भग्न प्रार्थनाएँ ।

इस अवतरण के पूर्वाद्ध में अमूर्त को मूर्त तथा उत्तराद्ध में मूर्त को अमूर्त रूप में उपस्थापित करने में महाकवि ने अवश्य ही अपनी सुदुर्लभ कवित्व शक्ति का परिचय दिया है ।

प्रस्तुत के अप्रस्तुत रूप में विनियोग का एक और अपूर्व उदाहरण इस प्रकार है—
 “णं वम्मह भल्लि विधंसणसील जुवारण जणि” (5.8.9) अर्थात् वह सुन्दरी युवकों के हृदयों को बीधनेवाले कामदेव के भाले के समान थी । महाकवि ने उपमा का प्रयोग केवलमात्र अलंकार-प्रदर्शन के लिए न करके गुण की सम्प्रेषणीयता और क्रिया की तीव्रता के लिए किया है । इस उपमा से यह प्रतीत होता है कि वह सुन्दरी अतिशय आकर्षक और आमन्त्रक रूप-सुषमा से विमण्डित थी ।

“भविसयत्तकहा” छन्दःप्रयोग की दृष्टि से भी उत्तम महाकाव्य है । महाकवि धनपाल के इस महाकाव्य में मात्रिक और वारिणिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है किन्तु प्रचुरता मात्रिक छन्दों की ही है । वारिणिक छन्दों में भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, मन्दार, चामर, शंखनारी आदि उल्लेख्य हैं तो मात्रिक वृत्तों में पञ्चदिका, अडिल्ला, दुवई, प्लवंगम, सिंहावलोकन, कलहंस, गथा आदि की प्रमुखता है । इस प्रकार शिल्पगत रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से यह महाकाव्य काव्यजगत् में कूटस्थ स्थान अविगत करता है ।

कथ्य या वस्तु के वर्णन की दृष्टि से भी इस महाकाव्य की अपनी अपूर्वता है । इसकी मूलकथा लौकिक होते हुए भी अपनी काव्यगरिमा से अलौकिक बन गई है । इसका नायक भविसयत्त (भविष्यदत्त) ख्यातवृत्त नहीं है अपितु, एक व्यापारी-पुत्र है । महाकवि धनपाल ने सामान्य व्यापारी-पुत्र को अपने महाकाव्य का समस्तगुणालंकृत नायक बनाकर

ख्यातवृत्त नायक की परम्परा का भंजन किया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि महाकवि धनपाल से ही अपभ्रंश-काव्य की रचना-पद्धति में लौकिक नायक की परम्परा का सूत्रपात हुआ है।

इस महाकाव्य की कथा को तीन प्रकरणों में विभक्त किया जा सकता है, यद्यपि मूल ग्रंथ में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं हुआ है। प्रथम प्रकरण में एक व्यापारी के पुत्र भविसयत्त की सम्पत्ति का वर्णन है। भविसयत्त अर्थात् भविष्यदत्त अपने वैमातृक भाई बन्धुदत्त से दो बार वंचना पाकर कष्ट सहन करता है किन्तु अन्त में उसे अपने जीवन में सफलता प्राप्त होती है। द्वितीय प्रकरण में कुरुनरेश और तक्षशिलानरेश में युद्ध होता है। भविष्यदत्त उस युद्ध में प्रमुखरूप से भाग लेता है और अंत में विजयी होता है। तृतीय प्रकरण में भविष्यदत्त तथा उसके साथियों से पूर्वजन्म और भविष्यजन्म का वर्णन है। जैनों में प्रसिद्ध श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य-प्रदर्शन ही इस महाकाव्य का रचनात्मक लक्ष्य है जो कथा के आरम्भ में और अन्त में भी उपन्यस्त हुआ है।

धार्मिक विश्वास के साथ अलौकिक घटनाओं का समावेश भारतीय कथा-परम्परा में रूढ़िबद्ध रहा है। गृहस्थ-जीवन के स्वाभाविक चित्र से विभूषित इस महाकाव्य में भी यक्ष द्वारा की गई अलौकिक सहायता का निर्देश है। सच पूछिये तो यथार्थ और आदर्श, इतिहास और कल्पना, दोनों के मनोरम समन्वय से यह महाकाव्य एक अतिशय रोचक तथा अत्यन्त प्रभावक महान् उपन्यास का श्लाघ्यतम व्यक्तित्व आत्मसात् करता है।

“भविसयत्तकहा” का वस्तुवर्णन बहुत ही सहज अतएव अकृत्रिम बन पड़ा है। ऐसा इसलिए हो पाया है कि कवि की अभिव्यक्ति में उसकी हार्दिक अनुभूति का सहज योग हुआ है। कवि-कल्पना कहीं भी किसी प्रकार से भी बलाघ्नित नहीं प्रतीत होती और न अनावश्यक स्फीत ही। इस संदर्भ में नात्यधिक शब्दों में गजपुर की समृद्धि और सौंदर्य की मनोहारी अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है—

तर्हि गयउरु एणउं पट्टणु जणजणियच्छरिउ ।

णं गयणु मुएवि सग्गखंडु महि अवयरिउ ॥

1.5.11

अर्थात् “मनुष्यों को आश्चर्य में डाल देनेवाला यह गजपुर नगर ऐसा लगता है जैसे स्वर्ग का एक खण्ड स्वर्ग को छोड़कर धरती पर उतर आया हो।” किसी समृद्ध नगर की स्वर्ग खण्ड से तुलना की परम्परा आदिकवि वाल्मीकि के काल से ही चली आ रही है। उन्होंने अपने आदिकाव्य “रामायण” में लंका नगरी की तुलना स्वर्गखण्ड से की है। पुनः महाकवि कालिदास (ईसापूर्व प्रथम शती) ने “मेघदूत” में उज्जयिनी की और उनके परवर्ती महाकवि स्वयम्भू (8 वीं शती) ने “रिट्ठणोमिचरिउ” (हरिवंश पुराण) में विराट नगर की तथा महाकवि पुष्पदंत (10 वीं शती) ने “महापुराण” में पोतन नगर की तुलना स्वर्गखण्ड से ही की है।

रस-वर्णन की दृष्टि से भी “भविसयत्तकहा” श्रेण्य है। इसके तीनों पूर्वोक्त प्रकरणों में प्रथम में शृंगार रस, द्वितीय में वीर रस और तृतीय में शांत रस की योजना की गई है। शृंगार से शांत की ओर प्रस्थान ही जैन काव्यों की सर्वविदित चारित्रिक विशेषता है। “भविसयत्तकहा” की नारी पात्र कमलश्री के अनुपम-अंग-सौंदर्य को देखकर कामदेव भी अपने को भूल जाता है—“सोहगो मयरद्धउ खोहइ ।” वीर रस के प्रसंग में महाकवि ने गजपुर और पोतनपुर के राजाओं के बीच हुए युद्ध का सजीव वर्णन करते हुए कहा है—

तो हरिखरखुरगसंघटिट छाइउ रणु अतोरणे ।

रणं भडमच्छरगिगसंघुक्करणधूमतमंघयारणे ॥

14. 14. 1

अर्थात् घोड़ों के तीखे खुराओं के संघर्षण से उद्भूत रज से तोरणरहित युद्धमूमि आच्छन्न हो गई। वह रज ऐसी प्रतीत होती थी मानो योद्धाओं की क्रोधाग्नि से उत्पन्न धुआँ का अन्धकार हो।

पुनः शांत रस के वर्णन के क्रम में संसार की असारता का प्रदर्शन करते हुए महाकवि ने लिखा है—

अहो नरिद संसारि असारइ,

तक्खणि दिट्ठपणट्ठवियारइ ।

पाइवि मणुअजम्मु जणवल्लहु,

बहुभवकोडिसहासि दुल्लहु ॥

18. 13. 1

“भविसयत्तकहा” प्रकृति-वर्णन का तो महाकोष है। इस महाकाव्य में आलम्बन-रूप में अंकित अनेक विमुग्धकारी प्रकृति-चित्र हैं। एक मनोमोहक प्रकृति-चित्र द्रष्टव्य है—

विसामंडलं जत्थ एणुं अलक्खं,

पहाय पि जाणिज्जए जम्मि दुक्खं ।

4. 3. 2

अर्थात् वन की गहनता से जहाँ दिशामण्डल अलक्ष्य था और प्रभातकाल को भी कठिनाई से जाना जाता था।

इदमित्थं, काव्यशास्त्रीय सम्पत्ति एवं महाकाव्योचित विषय प्रतिपत्ति की दृष्टि से अपभ्रंश का यह महाकाव्य अपने युग का “कालदर्पण” है साथ ही शाश्वत मानवीय जीवनधारा का उद्भावक होने के कारण आज भी इसकी प्रासंगिकता अक्षुण्ण है। कुल मिलाकर कथ्य की कमनीयता और शिल्प की सुषमा से समन्वित सम्पूर्ण कथा-साहित्य का प्रतिनिधित्व करनेवाली यह कलावरेण्य काव्यकृति अपभ्रंश के शिखर-महाकाव्य के रूप में धुरिकीर्तनीय है। निस्सन्देह, यह महाकाव्य महाकवि बाराभट्ट की “मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव” उक्ति को अक्षरशः अन्वर्थ करता है।

भविसयत्तकहा का भावबोध

—(डॉ०) प्रो. छोटेलाल शर्मा

□

भाव या भावों की व्यवस्था, अवस्था, समन्वय या भावक्षेत्र की संज्ञा रस है। इसलिए एक प्रकार से यह आध्यात्मिक बोध है। वैष्णवभक्तों ने “काव्यांगसंकर”, “रसगुणालंकार”, “सालंकार संकर” आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। “भोज” रस को एक उक्ति कहते हैं जो वाणी को अलंकृत करती है। भाव, रस, भावाभास, रसाभास आदि एक ही तत्त्व की विभिन्न अवस्थाएं हैं—भाव केन्द्रीय, रस चरम और भावाभास तथा रसाभास नीचे की, रस की पराकोटि अद्वैत की चोतक है, मध्यावस्था द्वैतकी—यही रस की आस्वादता और आस्वाद्यता है—“रसनाद् रसः” और “आस्वाद्यत्वाद् रसः”। इसका अधिष्ठान अहंकार है जो मन की शुद्ध प्रक्रिया की देन है। आनंत्य के साथ जुड़ना इसका स्वभाव है और शृंगार में चरमता को प्राप्त होता है। इसीलिए शृंगार को मूलरस कहा गया है—यही दर्शन का अहं है जो विविध भावों में विकीर्ण होता है। सभी का समन्वित रूप ‘प्रेमन्’ है। सभी भाव चरमता को प्राप्त कर सकते हैं। इनकी ‘स्थायी’ और ‘संचारी’ संज्ञा संदर्भ-सापेक्ष है। इसके लिए औचित्य प्रसार और गहराई की अपेक्षा है। इस प्रकार अनेकत्व विकासमूलक है और एकत्व सात्विक। आस्वाद भी आत्मरतिमूलक ही है—अहंकार के बाह्य पदार्थों से सम्बद्ध होते ही सभी दुःखद वस्तुएँ सुखद हो जाती हैं।

चमत्कार भी अहं का विस्तार जैसा ही है। यही इन्द्रिय कालुष्य और लौकिक संदर्भों से संयुक्त होकर भावाभास और रसामास है।¹ 'मानुदत्त' ने तो 'मिथ्या ज्ञानवासना' को स्थायी मानकर 'मायारस' का ढांचा खड़ा किया है जो रसामास कोटि का है। 'हरिमक्तिरसामृतसिन्धु' में रस को एकत्व से जोड़ दिया गया है और कृष्ण को 'अखिलरसामृतमूर्ति' बताया है।² रस केवल कृष्ण के संदर्भ में ही संभव है, इसकी मर्यादा भी बना दी गई है। इसी को 'जीवगोस्वामी' ने पुरुष योग्यता कहा है—'सामग्री हि.... पुरुषयोग्यता च।'³ इस प्रकार 'मानुदत्त' ने रसावलंबन की योग्यता को इंगित किया है और 'भोज' ने उसे चरित्र से जोड़ दिया है।

उपनिषदों में ज्ञानक्रम की शृंखला असत् से सत् (सुकृत) अर्थात् निर्विकल्प से सविकल्प की ओर है यही रस है। इसी प्रकार ब्रह्म रस भी है और रस से तृप्त होनेवाला अनुसन्धाता भी—दृक् भी, द्रष्टा भी।⁴ आनन्द या रस ही सब प्राणियों का जीवन है।⁵ जीवात्मा का परमात्मा से मिलन प्राप्तकाम, प्राप्तकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।⁶

'भरत' ने रस को लोक-स्वभाव-संसिद्ध या लोकानुगामी कहा है।⁷ यह भाव-व्यवस्था ही है—'तथा मूलं रसः सर्वंतेभ्योभावव्यवस्थितः।'⁸ इस तरह भाव और रस अन्योन्याश्रित हैं। रसत्व के लिए नाना भावों का उपगत होना आवश्यक है जिसका अर्थ है—'विभावानुभाव संचारी' आदि का स्थायी के समीप आकर अनुकूलता ग्रहण करना और मन द्वारा आस्वाद्य होना। 'घनंजय' ने भी भाव को आस्वाद्यरूप में व्यक्त करने को रस कहा है।⁹ 'भट्ट लोल्लट' विभावादि को रस का कारण मानते हैं जिनके द्वारा स्थायी भाव उपचित अवस्था को प्राप्त होकर रस होते हैं। रसानुभूति अनुभवों के आधार पर होती है। शंकुक ने परोक्ष प्रक्रिया का सहारा लेते हुए भी आरोप के लिए अनुभव और संस्कार को आधार माना है और कल्पना के आधार पर नाटकीय घटना के अनुमान की बात कही है। 'भट्टनायक' ने रस को सामाजिक के मन में स्थायी रूप से निरन्तर विद्यमान माना है। 'भट्ट तौति' भी संवाद को ही प्रधानता देते हैं जिसमें सामाजिक की चित्तवृत्ति निमग्न हो जाती है। वस्तुतः यह 'रत्यादिविषयानुभव' युक्त अहं है—अनुव्यवसायात्मक बोध। शैवागमों में अभेद, समरसता तथा आनन्द-इस त्रिसूची विधान की प्रधानता है। 'अभिनवगुप्त' ने रस के लिए दो आवश्यक तत्त्व माने हैं—आनन्द और पुरुषार्थसम्बन्ध। कलाएँ वैसे भी प्रयोजननिष्ठ होती हैं। रसानुभूति की अवस्था में 'स्वात्मपरामर्श' होता है जो स्वयं आनन्दरूप है—रति आदि वासनाओं का उद्बोध-आनन्दरूप स्वसंवेदन। यह साक्षात् मन की प्रक्रिया है, इन्द्रियां तो शिथिल होकर विषय-विमुख हो जाती हैं। यह आनन्दाभिव्यक्ति ही चैतन्य है, चमत्कार है, रस है। यह लोकोत्तर है क्योंकि लोकाधार कार्य-कारण और ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध से मुक्त है। यह 'विभावादि जीवितावधि' है, पहले से विद्यमान का प्रकाशन नहीं, तन्मयीभाव द्वारा रत्यादि भावों से सम्बन्धित चैतन्य तत्त्व की अनुभूति है—विभावादि परामर्श। यह न केवल निर्विकल्प है और न सविकल्प, अपितु दोनों ही विभावादि के संयोग से होनेवाली अनुभूति है।

पंडितराज जगन्नाथ 'वेदान्त' के आधार पर रस की व्याख्या करते हैं। उनका कहना है—आत्म-चैतन्य ही विभावादि से संवलित होकर रत्यादि भावों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। इस प्रकार रस आत्म-चैतन्य का स्वप्रकाशन है, अन्तःकरण की वृत्ति नहीं क्योंकि इसमें मन के तनाव नहीं रह जाते। इसे "चिद्विशिष्ट" "निज संबिदविश्रान्ति" "रत्याद्यवच्छिन्नचित्" आदि कहा गया है। रत्यादि न तो वस्तु हैं न बाह्य विषयक विचार, हैं तो केवल उन विषयों के संस्कार जिन पर चित्त की एकाग्रता आह्लादपरक होती है। शंवागमों में रस स्वात्म परामर्श है और वेदान्त में चेतना के आवरण का अंग। यह अनुभूति है इसलिए आस्वाद है, विचारानुगत है इसलिए आस्वाद्य।

जैनदर्शन द्रव्य और गुण दोनों को सत्य मानता है—न केवल द्रव्य की सत्ता ही मूल है और न परिणामन विवर्त की, केवल परिणामन भी मूल अस्तित्व नहीं है और न द्रव्य अज्ञान या कल्पना की वस्तु। प्रत्येक परिणामन भी नया अस्तित्व नहीं है क्योंकि अनुभवसिद्ध परिणामन के तीन तत्त्व हैं—द्रव्य, उत्पाद्य और व्यय। इस प्रकार सविकल्प ही सत्य है और निविकल्प अनियत एवं अस्पष्ट। स्वाभाविक है कि वस्तु अनेकान्त हो (न-एकान्त)। अतः सत्य सापेक्ष है, उपाधिग्रस्त है, एकान्त या निरपेक्ष नहीं जैसे—अणु समूह के संदर्भ में द्रव्य है लेकिन दिक्काल के संदर्भ में नहीं। अतः द्रव्यता संदर्भ सापेक्ष है, मौलिक नहीं। गुण वस्तु के साथ भी दृश्य हैं और भिन्न भी जिन्हें "द्रव्यनय" और "पर्यायनय" कहा जाता है। "नंगमनय" सहजबुद्धि को लेकर चलता है जो "न्याय वैशेषिक" की पद्धति है। इसमें वस्तु को सत्ता या सामान्यता के संदर्भ में नहीं देखा जाता केवल प्रथम संपर्क की प्रतीति के रूप में पकड़ा जाता है। "संग्रहनय" वेदान्त की दृष्टि है जो मूल सत्ता को देखती-खोजती है। 'व्यवहारनय' सांख्य दृष्टि के समान है जिसमें मौलिक और पारिणामी गुण घुले-मिले रहते हैं। इनकी सातत्य परम्परा निविघ्न बनी रहती है और हमारे उपयोग के अनेक परिणाम जुड़े रहते हैं, अतः हमारे लिए ये ही प्रमुख हैं। "पर्यायनय" में प्रभावी गुण-समूह वस्तु-विचार का सारतत्त्व है। नय दृष्टियाँ ही तो हैं फिर वे अनेक क्यों नहीं होंगी। इसलिए सम्यक्ज्ञान उपयोगिता विशिष्ट है—प्रयोजन संकुल। संज्ञान-प्रक्रिया की जांच-पड़ताल एक उलझाव है, आरोपित लगाव। हमारा तो इतने से काम चल जाता है कि कुछ खास वस्तुएं कुछ खास संदर्भों में कुछ खास योग्यता प्राप्त कर लेती हैं और हमें उनका ज्ञान हो जाता है—आम खानेवाला पेड़ गिनने की उलझन मोल नहीं लेता। फिर, हमारे पास इसका कोई साक्ष्य भी नहीं है कि वे ज्ञान पैदा करती हैं। हमारा उद्देश्य तो शुभ की प्राप्ति और अशुभ से मुक्ति तक मर्यादित है। ज्ञान की प्रक्रिया में हमारी आत्मा ही जाता और ज्ञेय रूप में व्यक्त होती है। इन्द्रियाँ तो उपकरण गवाक्षभर हैं। आत्मा में उत्पन्न ज्ञान को वे बदल नहीं सकतीं क्योंकि वे पहले से ही वहाँ विद्यमान रहती हैं। ज्ञान प्रक्रिया का अर्थ केवल इतना ही है कि जो आवरण से अदृश्य था, वह भंग हो गया।¹⁰ अज्ञान या भ्रम संबंध-व्यतिक्रम हैं जहाँ वस्तुएं उचितरूप से अनुभूत नहीं होतीं। ज्ञान में यह व्यतिक्रम नहीं रहता। इतर संबंध या संदर्भ दिक्काल के संबंध या संदर्भ से समीकृत नहीं होते। इसको ही सत्ख्याति कहते हैं। वस्तुएं अनुमान रूप नहीं हैं—सापेक्ष हैं। ज्ञान आत्मा का आवरण भंग है। यह आवरण बाह्यद्रियों की

देन है। आत्मा शरीर के सभी अंगों से सम्बद्ध रहती है, इसलिए मन या मानस का संज्ञान में कोई व्यतिरिक्त प्रयोजन नहीं होता। भीतर व्यक्ति के कर्म और बाहर वस्तु का संपर्क उसका निर्माण करते हैं। अतः प्रत्यक्ष ही उपादेय है और परोक्ष हेय। बौद्धों में प्रवाह से ही अस्तित्व की नाप-जोख होती है। प्रवाह की हर इकाई उनके लिए विशिष्ट है—एक दूसरे से हर क्षण भिन्न, नया अनुक्रमण। जैनदर्शन इससे सहमत नहीं है। यहाँ वस्तु के कुछ अंश ध्रुव हैं कुछ उत्पाद्य और कुछ व्ययशील। इसलिए अनुभव से ही ज्ञान का आरंभ होता है। अनुभव में भीतरी चैतन्य और बाहरी पदार्थ—दोनों का संयोग अपेक्षित है, केवल बाहरी पदार्थ की उपस्थिति से ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः हमारे अनुभव हमारे चैतन्य के विपरिवर्तित रूप हैं। इसमें चेतन और अचेतन की सीमा का झमेला नहीं है जैसा “सांख्य” ने खड़ा कर रखा है। ज्ञान तो आत्मा की रूपरहित विशेषता है जो स्वतः ही वस्तुओं को व्यक्त करती है। इसलिए ज्ञान की प्रामाणिकता भी भीतरी-बाहरी संवाद पर निर्भर है। ज्ञान की कसौटी ज्ञान नहीं हो सकता जैसा “मीमांसक” सोचते—कहते हैं। रस ज्ञान ही है अनुभूति भी और उपलब्धि भी।¹¹

रस के संदर्भ में जैन और जैनेतर दर्शनों में पर्याप्त साम्य है। जैनकृति के भावबोध के आकलन-मूल्यांकन के लिए इस ओर संक्षेप में अंगुलि-निर्देश करना समीचीन होगा —

1. रस आत्म-चैतन्य का प्रकाशन है, चेतना के आवरण का भंग। इसे एक दृष्टि से स्वात्म-परामर्श भी कहा जा सकता है।
2. रस प्रक्रिया में विभावादि-वर्ण्य विषय की भी उतनी ही महत्ता है जितनी वासना या संस्कारों की। इस योग्यता से ही यह उत्पन्न होता है, साधारणीकृत होता है, अभिव्यक्त होता है।¹²
3. रसयोजना प्रयोजननिष्ठ है और रस रस के लिए है भी, नहीं भी क्योंकि सूचना और सौन्दर्य-दोनों ही काम्य हैं।
4. भाव केन्द्रीय अवस्था है और रस चरम, अतः रस द्वैत और अद्वैत-दोनों अवस्थाओं में निष्पन्न होता है आस्वाद्य और आस्वाद—दोनों रूपों में।
5. भावाभास और रसाभास सम्बन्ध व्यतिक्रमजात हैं, संदर्भ अनौचित्य के विकार।
6. रस व्यवस्था है, अवस्था है, समन्वय है, भावक्षेत्र है जो अनेक भावों में उद्गीर्ण-विकीर्ण होता है।
7. भावमात्र रसकोटि को पहुंच सकते हैं उसमें स्थायी—संचारी का भेद नहीं है।
8. रस तन्मयीभाव द्वारा चैतन्य तत्त्व की अनुभूति—उपलब्धि है।

9. रसप्रक्रिया में संवाद का विशेष महत्त्व है ।
10. रससम्बन्धी कोई दृष्टि मिथ्या नहीं है—पर्याय है, और सभी के एकाधिष्ठान में संमिश्रण के कारण ।

वात्सल्य तथा सजातीयभाव—“रुद्रट्” “प्रेयान्”¹³ और “सोमेश्वर” स्नेह को वात्सल्य कहते हैं—अनुत्तम में उत्तम की रति ।¹⁴ “भोज” द्वारा यह सुनिदिष्ट¹⁵ है, “हरिपालदेव” द्वारा पुष्ट¹⁶ तथा “विश्वनाथ” द्वारा प्रतिष्ठित ।¹⁷

“मंदारमंदचंपूकार” करुणा¹⁸ और “कवि कर्णपूर” ममता¹⁹ को इसका स्थाया बताते हैं । हमारे “सरसइ संभविण” कवि द्वारा इसका एक “प्रसन्न-सौन्दर्य-चित्र” तब उकेरा गया है जब वह “नव-कदली-गर्भ” सदृश “भविसयत्त” के बाल-सहज चंचल स्वभाव को “लोकानुवृत्ति”, “स्वभावोक्ति” एवं “साधारणीकरण” की प्रक्रिया में ढालने को उद्यत हुआ है । बाल की क्रीडा-क्रियाएं सहज स्फुरणशील हैं—मां के स्तनों को हाथ से स्पर्श करते हुए दुग्धपान, “वरिवनिताओं के केशों का ग्रथन,” “टहोके से हंसना,” “वक्ष में स्पर्श से गुदगुदी होना” “चरणों से स्तनहारों का दलना”, “धवल तारहारों को खींचना—तोड़ना” आदि उद्दीपन हैं, “प्रिय-परिजनों का आकर्षण होना”, “हाथों-हाथ उठाए घूमना”, “गोद में छिपाए रखना”, “सिंहासन पर सुलाना-बैठाना” आदि अनुभाव और “हर्ष”, “आवेग”, “मोह”, “श्रौत्सुक्य”, “गर्व”, “चपलता”, “उत्साह” आदि संचारी हैं । इसके पीछे परिकर-परिवार की अतृप्त आकांक्षाओं, प्रेम, आकर्षण आदि की विभिन्न कक्षा, तीव्रता और वेग की झलक है—

अहिरण्यवरंभगम्भसोमालउ धरणवइघरि परिवडइडइ बालउ ।
 कमलसिरिहि पीणुण्णयसट्टइ, पिल्लिवि हातु पियइ थरणवट्टइ ।
 हत्थिहत्थु भमइं जरांविदहो, चरियसुहावहु सुट्ठु रारिदहो ।
 रारणाहिं सइं अंकि लइज्जइ, चामरगाहिणीहिं विज्जिज्जइ ।
 पवर विलासिणीहिं चुंबिज्जइ, अण्णाहिं पासिउ अण्णाहिं लिज्जइ ।
 सीहासणसिहरोवरि भुच्चइ, वरविलयहिं सिरि कुचलइं लुचइ ।
 कोषकोउ हसइ वियारहं धंइ, अहतु समप्पइ उतरांहिं उंइ ।
 चुंबिज्जंतु कवोलइं चीरइ, गलि लगंतु धरांहिं अंहिं खीरइ ।
 कोमलपयांहिं दलइ थरणहारइं, आलंचिवि तोडइ सियहारइं ।

2. 1.

इसका ‘हर्ष’, ‘गर्व’, ‘आवेग’, ‘उत्साह’ आदि से सहवर्तित “आत्मतोष चित्र” तब दीख पड़ता है जब धरणपति पुत्र की उपलब्धियों पर श्लाघा में दत्तचित्त रहता है और पत्नी गर्व संभार को विस्तृत करती हुई लोकोक्ति तक पहुंच जाती है । इसके पीछे “आशा”, “श्रुमार” और “आत्माभिमान” की झलक-झलमलाहट है—

धरावइ सुट्ठ समुष्णयमाणं, अणुविणु विणु गिरन्तरदारणं ।
 पुत्तविचित्तगुणिण्हं परितुट्ठउ, सलहइ धरिण्हि पुरउ पहिट्ठउ ।
 पिए सावण्ण एहु एउ वीसइ, मंच्छुडु कुलि उज्जोउ करेसइ ।
 पोमलच्छि विहसेविणु जंपइ, पुण्णोदइण काइ एण समप्पइ ।
 रक्खहो एणमि फलु संबज्जइ, किं अंबइं आमलउ णिवज्जइ ।
 जो तउतएणइं अंगि उप्पणणं, तामु सरीरि होइ किं दुष्णं । 2. 3. 4-9

“प्रवास आगत” का एक “उत्कंठा चित्र” तब उपलब्ध होता है जब हमारे प्रमुख पात्र का वैमात्रेय प्रवास से लौटता है। इसमें लोचन स्फुरण, काग द्वारा अगमन की सूचना का संसर्जन, “आवेग”, “आशंका”, “हर्ष”, “अविश्वास” आदि संचारियों का सहवर्तन और “अश्रु”, “स्वरसंग” आदि सात्विकों का अनुभावन है—

सुयविओयउम्बाहुलिहूअहिं, वामउ लोयणु फुरइ सक्कअहिं ।
 कुरुलिउ वायसेण धरपंगणी, भणइं सावि आहल्लिय नियमणि ।
 कुरुलहिं काइं अलिउ असुहावउ, बंधुअत्तु परदेसहो आवउ । 8. 1. 3-5

गयवइयहिं कम्मइं मिल्लिइं नयणइं हरिसंसुजलोल्लियइं ।
 पियकुसलाकुसलु करतियइं चित्तइं संदेहविडंबियइं ॥ 8. 1. 11-12

वरिणवइ असुजलोल्लियनयणं पुच्छइ पुणुवि सगग्गिरवयणं
 अहो किं सच्चु एउ पइं जंपिउ, किपि विचारहिं करहिं मुहप्पिउ । 8.2.1-2

विट्ठु विवु रहसेण पषाइय अवरुप्पह आवीलिय साइय ।
 सुयणहिं असुजलोल्लियनयणिण्हिं पुच्छिउ कुसलु सुहासियवयणिण्हिं ।
 भल्लरिपइहसंखनिग्घोसिं, पट्टणि पइसरति परिओसिं । 8 3. 9-11

बंधुयत्तु वरभवणि पइट्ठउ उक्कंठियउ जणेरहिं विट्ठउ ।
 अणंदसमागमगडिभयइं संभासणवयणइं थभियइं ।
 सहसत्ति न सक्किउ जोयणिण्हिं हरिसंसुगलत्थियलोयणिण्हिं । 8. 4. 6-8

“प्रवास आगत” का एक “गर्व चित्र” तब उभरता है जब हमारा प्रमुख पात्र घर लौटता है। “स्मृति”, “हर्ष”, “आवेग”, “विषाद”, “अपलता”, “अविश्वास”, “दैन्य”, “विनय”, “जड़ता” आदि भाव सहवर्ती हैं और “स्तंभ”, “प्रलय” आदि सात्विक संसृष्ट ।

बुक्खु बुक्खु नियमणि संजोइउ. पुणु पुणु पुत्तहो वयणु पलोइउ ।
 हाकिम वणि हिडिउ असहायउ, मह पुत्त अज्जु पुणु जायउ ।
 हा गिरिकंबरि केम पइट्ठउ हा सुन्नउं पुर भमिउं अणिट्ठउ ।
 हा पुर सयलु जेण संघारिउ कह न तेण निसियरिण विचारिउ ।
 हा सुन्नंगणि होइ उवद्वउ परिभमंति निसियरउ रउइउ ।
 एम करेवि सुइर कूवारउ, पुणु पुणु सिह चुंबिउ सयवारउ । 9. 15

ऐसे ही एक "हर्षोद्विग" विनिविष्ट चित्र तब मिलता है जब उद्विग्न मां को पुत्रागमन का संदेश मिलता है। इस भावोदय की रभसपूर्ण प्रक्रिया में मां को सम्भलना कठिन हो जाता है। वह "आलिगन", "आशीष", "अश्रु", "स्वरभंग", "आवेग", "मोह", 'जड़ता', 'शैथिल्य' से अधिकृत हो जाती है, स्तनों से दूध बहने लगता है और समुल्लास—समारोह से संवाद होने लगता है—

तं निसृणिवि रहसेण पधाइय हरिसि निययसरीरि न माइय ।
सरहसु विन्नु सणेहालिगणु निवडिवि कम कमलहि थिउ नंदणु ।
मुहवंसणु अलहंतइं नयणइं अंसु मुआइयाइं जिह रयणइं ।
लेवि सहत्थिं सइं उट्ठाविउ, नयणहिं मुहवंसणसुहु पाविउ ।
किर आसीस वेइ सुहवारिसि ताम निरुद्धवाय अइहरिसि ।
उच्चलिवि मुहकमसु निउंजइ सन्नइं पवरासीस पउंजइ ।
निम्मच्छरणं करिवि नियपुत्तहिं, वहइ खीर खउवीसहिं सुत्तहिं ।
सुहमंगलजलकुंभ सम्वारिय, दहिदुक्खस्य सिरि संचारिय ।
चंदरणवंदणइं मंगल्लइ एम सइंमि कीयइं सुमहल्लइं ।

9.7

कवि ने 'चिन्ता', 'उत्साह', 'आशंका', 'तिरस्कार', 'निर्वेद', 'ग्लानि', 'विषाद', 'कृतज्ञता', 'पश्चात्ताप' आदि संचारियों से सहवर्तित तथा 'अश्रु' 'वैवर्ण्य' आदि सात्त्विक भावों से अनुभावित 'प्रवासगत वात्सल्य' का एक 'स्मृति चित्र' तब उकेरा है जब हमारा प्रमुख पात्र अपने स्वजनों के साहचर्य के लिए चंचल दीखता है—

सा नियजम्मभूमि सुमरंतउ नियजणेरिवच्छल्लु सरंतउ ।
परिंचितइ परिबडिइयसोएं, काइं एण महत्तणइं विहोएं ।
अच्छइ जणणिं कहिंमि दुक्खल्लिय बहुदुज्जणदुक्खयणहिं सल्लिय ।
जाइं सुइह चितविउ सुआसइं पुत्तजम्मदोहलयपियासइं ।
नवमासहिं नियकुक्खिहिं धरियउ, पुणु रउरवकालहो नीसरियउ ।
नियसरीरखीरिं परिपलित अणुदिणु पियवयणहिं दुल्लालित ।
ताहिं कयाइ न मइं किउ चंगउ, आयउ दुक्खें पूरिवि अंगउ ।
एउ चितंतु कत दुक्खयणउं पिक्खिवि अंसुजलोत्तियनयणउ ।
सइं वत्थंचलेण पियकंतए लुहिय नयण तरलावियनित्तइं ।

नोसासु मुएवि किउ विच्छायउ मुहकमसु ।

संभरिउ कुडुंभु ताए वि नयणिहिं मुक्कु जलु ।

6.12

अवरुप्पर पक्खालिय नयणइं अवरुप्पर जंपवि पियवयणइं ।

अवरुप्पर नियमणु साहारिउ "सोय महाजलि" अप्पउ तारिउ ।

6.13

एत्तिउ कालु जाउ सुहसंगउ एव्वहिं नितु उम्माहिउ अंगउ ।

चिरमुक्क रुअंति जणणिं परमसंभावय ।

सा मज्झु विआइ किं जीवइ किं मरिवि गय ।

6.14

मां तो वात्सल्यमयी होती ही है। कवि ने 'अशरण', 'अविश्वास', 'आशंका', 'दैन्य', 'विषाद', 'स्मरण', 'ग्लानि' आदि से सहवर्तित तथा 'स्वरभंग' एवं 'अश्रु' आदि सात्विकों से अनुभावित एक 'उद्वेग चित्र' तब उकेरा है जब हमारा प्रमुख पात्र अपनी मां के सामने प्रवास की अनुमति के लिए बड़ा है। जननी कोढ़ में नई खाज को अनुभव करती हुई सिहरने लगती है—

त रिणुरोवि सगगिरवयणी भराइं जरोरि जलद्वियरायणी ।
 हा इउ पुत्त काइं पइ जपिउ सिविरणतरि वि रणाहिं महु जपिउ ।
 एक अकारणि कुवियवियप्पे विण्णु अणंतु अणंतु दाहु तउ बप्पे ।
 अण्णु वि तेणे समउ तउ जंतहो रिण्णुइ खणु वि रणाहिं महु चित्तहो ।
 को जाराइं कण्णमहाबिसइ अणुविणु दुम्मइमोहियइं ।
 समविसमसहावाहं अंतरइं बुद्धसवित्तिहि बोहियइं । 3.10

आगे 'काव्याभिप्राय' से युक्त 'अरुचि', 'कृशता', 'अधीरता', 'संताप', 'व्याधि', 'प्रलाप', 'अनालंबनता' आदि प्रवासगत वियोग-दशाओं से गर्भित एवं 'ग्लानि', 'दैन्य', 'मरण' आदि संचारियों से सहवर्तित एक 'अभिलाषाचित्र' कवि तब खड़ा करता है जब वह स्वयं उस 'दुहभायण' के 'बहुदुक्खुप्पायण' पर आठ-आठ आंसू बहाना प्रारम्भ करता है—

अच्छइ दुक्खमहण्णविसित्ति सुअविओइजालोलिपलित्ति ।
 आसणु सयणु वयणु नउ भावइ सिद्धिलवलय वायसु उडुवइ ।
 रडि वायस जय किपि वियाणाहिं भविसयत्तु महु पंगणि आणाहिं ।
 कि कइयहंमि दिवसु तं होसइ जहि सो सरहसु साइउ देसइ ।
 बुक्कर एम एउ पियसंगउ एवाहिं खलविहिं विनडइ अंगउ ।
 गयउरि सव्वउ तियउ सउन्नउं नियभत्तारपुत्तपरिपुन्नउं ।
 कावि न मइ जेही दुहभायण सुहिसयणहं बहुदुक्खुप्पायण ।
 एम रुअंति सरीरु किलेसइ वयनियमाहिं उववासहिं सोसइ ।

विहिं विनडहिं काइं केणावि किउ अग्गुद्धरणु ।
 अह मेलहिं पुत्तु अह संखेविं वइ मरणु ।

6.1

एक 'करुणोद्वेग' का चित्र कवि ने तब उभारा है जब हमारा प्रमुख पात्र प्रवास से नहीं पहुंचता है और उसके साथी पहुंच जाते हैं। उसकी माता अर्ध मार्ग में बैठकर ही धाह देने लगती है। यहां 'स्मृति', 'तिरस्कार', 'ग्लानि', 'उद्वेग', 'उत्कंठा', 'प्रलाप', 'मरण' आदि संचारी हैं तथा 'स्वरभंग' एवं 'अश्रु' आदि सात्विक और 'हाथों में सिर देना', 'बिधि को गालियां देना', 'रास्ते में बैठकर रोने-चिल्लाने लगना', 'शैथिल्य से अधिक्वत हो जाना' आदि कायिक अनुभाव हैं—

कर मउलि करेवि कवोइ पणविप्पिणु सिरिए ।
संखुहियमणेण जंप जंपिउ किपि सगगरिए ।

8.11.9-10

तहो जंपंतहो वयणु पलोइवि थिय कवोलि करयलु संजोइवि ।
नउ सुंदरइ चवंतहो वयणइ, थोरंसुर्याहि निरुद्धइ नयणइ ।
किउ संघट्टु विहुर चित्तंतिए अकुसलु किपि जाउ विणु भतिए ।
हा विवरीउ जाउ विहि बुट्ठिय रुलुधुलंति सहसत्ति समुट्ठिय ।
घरमि न पत्त समुत्तिभयवाहिहि अद्धवहिज्जि विणिग्गयधाहिहि ।
हा पुत्त पुत्त उक्कंठियहि घोरंतरि कालि परिट्ठियाहि ।
को पिक्खवि मणु अम्भुद्धरमि महि विवरु देहि जि पइसरमि ।

8.12.4-10

हा पुब्बजन्मि किउ काइं मइं निहिबंसरिए जं नयणइं हयइं ।
हा पुत्त नयरि वद्धावणउं महु बीणहि वयणु वयावणउं ।
हा मिलिय सयलसयणहं सयण हउं मुद्ध एक पर बीणमण ।
हा पुत्त बाल कीलइं सुहइं एवाहिं ताइंमि विनडंतु मइं ।

8.13

वरि अप्पाणु हरोविणु घाइउ मं पइभवणि वोसु उप्पायउ ।
तो वरि कइवि विणइं पडिवालिवि पच्छइ मरमि देहु अप्फालिवि ।

8.16.2-3

रति तथा सजातीय भाव—‘संयोग श्रृंगार’ का एक ‘भौतिक चित्र’ तब दोख पड़ता है जब कवि धनपति को अपनी दूसरी पत्नी के रति-बीच विलास में आकंठ निमग्न होने के वर्णन का उपक्रम करता है। समग्र चित्र ‘हाव’, ‘भाव’, ‘हेला’, ‘विभ्रम’, ‘पुलक’, ‘परिहास’, ‘रभस’, ‘रोष’, ‘स्पर्श’ आदि से दीप्त है और ‘आलिंगन’, ‘सीत्कार’ ‘हृदयकंप’, ‘समर्पण’, ‘बन्धकरण’ आदि से ध्वनित—

परियणिएपियवयणिएहि जणु रंजइ एाहु विचित्तणुणोहं अणुहुंजइ ।
जाणइं पियमुह सुहवामोहणु मणिए चित्तिउ सइ सुरयारोहणु ।
सललिउ ईसि ईसि अवचंडणु अहरकवोलकंठउरखंडणु ।
मुहसिक्कारकणिएउरउरकंपणु सरहसु ससलिलरमणसमप्पणु ।
कररुहंपत्तिपुलयपरिउंवणु पणयरोसमयरोसनिरुंभणु ।
बीणालावणिएगेयपरिक्खणु कुडिलवियारि सरोसनिरिक्खणु ।
दिन्नपहरपडिपहरपडिच्छणु अलयगाहपडिगाहसमिच्छणु ।
विभ्रमभावफुरियअहरेक्खणु मंदरायबहुरायवियक्खणु ।
पियपरिहासवासविहडावणु मयणुक्कोवरंणुपयडावणु ।
बंधकरणवावारवियंभणु सुहकरकंससमयरसथंभणु ।

3.3

और विभाव-सौन्दर्य “संभावना” का विषय है—

पुष्पिमइंबदं बससिवयरी वंतपंतिपहपहसियवयरी ।
 सयलकलाकलावसंपुष्पी अहिरावलच्छि नाई अइष्णी ।
 बालमराललीलगइगामिण सा किय रियपरिवारहो सामिण । 3.2

‘पूर्वानुराग’ का एक ‘व्याधि-चित्र’ तब उभरता है जब ‘वज्जोयर’ की दुहिता ‘घनमित्त’ के अनुराग में ‘अभिलाषा’ ‘चिन्ता’, ‘अरुचि’, ‘जड़ता’, ‘शून्यता’, ‘संताप’, ‘गुणकथन’, ‘निद्राच्छेद’, ‘त्रपानाश’, ‘विषय-निवृत्ति’, ‘नयन-प्रीति’, ‘तनुता’ आदि अवस्थाओं को पार करती हुई ‘मदनवेश’, ‘अंगवक्रता’, ‘बालचुंबन’ आदि कार्यकलापों द्वारा आकर्षण का अर्थक प्रयत्न करती है—

बालकुमारहो समुहुं पलोअई अणिसिसनयण वयणु अवलोयई ।
 ताह बिहिंमि अहिलसियइं चित्तइं बिहिंमि गयइं संदेहचरित्तइं ।
 वम्महसरहं विरोलित्त अंगउ चित्तंतिहि तहि सुरयपसंगउ ।
 एकइ बाल सुर्काव सोहइ तणु इज्जंति निरारिउ मोहइ ।
 दूसहु मयणावेसु विडंबइ गलि लाइवि डिभउ परिउंबइ ।
 मोइअंगु विचारिंह अज्जइ पहुपंगणि पइसंति विलज्जइ । 19.3.5-11

सहियरि निह विवरणम्मण दीसहि कि उज्जवणउं किपि सिलीसहि ।
 किसियइं तुदु मुद्धि बाहुलयइं सिठिलइ परिभमंति मणिवलयइं ।
 केसकलाउ खंधि ओणल्लइ परिमोक्कलु नियंवि आयल्लइ ।
 फुट्टइ अहइ सुसइ मुहपंकउ नयणइं नउ जोयंति असंकउ । 19.4

‘ईर्ष्यामान’ का एक ‘चिन्ता चित्र’ तब मिलता है जब घनपति का कमलश्री के प्रति आकर्षण मन्द हो जाता है । यह ‘वितर्क’, ‘चिन्ता’, ‘विषय’, ‘विषाद’, ‘संदेह’, ‘चपलता’ आदि संचारियों से सहवृत्तित है—

तं पिक्खि वि मिल्लिय मंदरसु खलित्त पिम्मु परियत्तगुणि ।
 रणारणउं बहंति महच्छिमइ बहुवियप्प चित्तवइ मणि । 2.4

एउ अउक्खुं किपि अविस्सिट्ठिउ एहउ मइं ए कयाइवि दिट्ठउ ।
 गुणीहिंमि गुणअत्तं तिहि कसइ, उबयारि वि कुब्बयणिहिं वूसइ ।
 एवाहिं काइं करमि हउं आयहो, निक्कारणि विणट्ठसंकेयहो ।
 पहिलउ दरिसि वि अनुसु सण्णहु निम्मलगुणहं भरेविणु देहु ।
 एव्वहि कक्कस लील पयासिय कि हुअ अण्ण कावि पियभासिय । 2.5

‘मति’, ‘विबोध’ आदि भावों से रंजित ‘संकीर्ण शृंगार’ का एक मुखर चित्र तब दीख पड़ता है जब घनपति कमलश्री के चरणों में गिरकर क्षमायाचना करता है । हर्षाश्रुओं से चित्र पानीदार हो गया है—

अं एमवि न विन्नु पच्चन्तरु वयणिंहि सघणनामहि ।
 तं बुच्चिसहु सहिवि नउ सक्किउ सल्लिउ कामबारणिहि ।
 तो अबलोइवि तहि वयणभंगु पय धरिवि निवेसिउ उत्तमंगु ।
 लइ खमिउं खमिउं पुब्बावराहु पय मिल्लि मिल्लि मं करहि गाहु । 12.11

भणियं च पुत्ति माणं नो कीरइ विप्पिए अणुप्पन्ने ।
 मुद्धे अइट्टुसल्लिले एमेव न मुच्चए खेडी ।
 अणियंतहो कंतहो लज्ज वहतहो माणिएण माणउं जा करइ ।
 तहि तेण जि बोसि अंतरि रोसि सो पिउहत्थहो उत्तरइ । 12.12

‘प्रवास’ का प्रतीपवासगर्भ अर्थ एक चित्र तब मिलता है जब धनपति कमलश्री से विमुख होकर व्यवहार की ‘कोमलता’, ‘गुणकथन’, ‘केलिपरिहास’ ‘मान’, ‘प्रलयरोष’ आदि सभी को तिलांजलि देता है—

जो चिर पियपेसलइं चवंतउ मुहमुहेण तंबोलु खिवंतउ ।
 अणुदिणु पियवावारपसंसउ, तहु वट्टइ आलावणि संसउ ।
 जो परिहासइं केलि करंतउ पणयसमिद्ध माणु सिहरंतउ ।
 सो वट्टइ परिचत्तसणेहउ ता किं होइ एण होइ व जेहउ । 2.4

‘प्रवासोद्वेग’ का एक चित्र तब मिलता है जब हमारे प्रधान पात्र की वाग्दत्ता का अपहरण हो जाता है और वह ‘अंगों का असौष्ठव’, ‘संताप’, ‘मूर्च्छा’, ‘अरुचि’, ‘अधीरता’, ‘अनालंबनता’, ‘दुर्बलता’ आदि अवस्थाओं को भोगती हुई एकनिष्ठ बनी रहती है—

अणुवि जणिए अरुचरिउ पंयपइ नवि केणवि समाणु सा जंपइ ।
 नउ विहसइ नउ तणु सिंगारइ नउ लोयणहं अंसु विणिएवारइ ।
 अरुछइ पडिय गरुयउब्बेवइ जणु संवेहु करइ जीवेवइ । 9.9

पुरुष भी अपवाद नहीं है । उससे संबंधित प्रवास प्रेमोद्वेग चित्र भी ‘संताप’, ‘मूर्च्छा’, ‘जड़ता’, ‘स्मृति’, ‘अनालंबनता’, ‘पांडुता’, ‘दुर्बलता’, ‘अरुचि’, ‘तन्मयता’, आदि कामावस्थाओं से अंतरित है—

दूसहपियविअोयसंतसउ मुच्छइं पत्तउ ।
 सीयलमारएण वणिए वाइउ तणु अप्पाइउ ।
 करयलि नायमुहु संजोइवि पुणु पुणु जोइवि ।
 तेण पहेण पुणु वि संचल्लिउ विरहि सल्लिउ ।
 बुन्मणु तं पइट्टु वरमंदिह नयणाणंदिह ।
 पियहि पयल्लयाइं परियच्छइ सा न नियच्छइ ।

सुमरिवि वारवार उम्माइय पंचमु गाइय ।
 बुनउ नाहि कोवि संभालइ विसउ निहालइ ।
 पियविरहानलेण संतसउ सो हिंडंतउ ।

7.8

‘स्मृति’, ‘उत्साह’, ‘श्रीत्सुक्य’, ‘चिन्ता’, ‘दैन्य’, आदि संचारियों से सहवर्तित ‘मातृभूमि रति’ का एक चित्र तब मिलता है जब सार्थ संकटग्रस्त होता है—

नियजम्मभूमि सुमरंतइहिं दूरंतरु हियइ धरंतियाहिं ।
 सहएसहो सबइम्मह हुअहिं उम्माहउ किउ बणिवरसुवाहिं ।
 चबइ कोवि संभरिवि सएसहो मंच्छुडु होसइच्छेउ किलेसहो ।
 कोवि भराइं परिवद्धियमंगसु अज्जवि भित्त दूरि कुरुअंगसु ।
 कोवि भराइं ओवाइय देसहं जइ बुत्तरु मयरहरु नरेसहं ।

7.1,2

भक्ति तथा सजातीयभाव—“भरत के नाट्यशास्त्र में भक्ति को शान्त में समाविष्ट कर लिया गया है²⁰ जिसके विरुद्ध रसगंगाधरकार ने आपत्ति उठाई है²¹, शाण्डिल्यभक्ति सूत्र²², नारद भक्ति सूत्र²³ और श्रीधरी टीका²⁴ इसकी स्वतंत्र प्रतिष्ठा के पक्षधर हैं। आलोच्य कृति में भी ‘उत्साह’ ‘मति’, ‘विबोध’, ‘वृत्ति’, ‘निर्वेद’, ‘स्मृति’, ‘विश्वास’ आदि भावों से पुष्ट भक्ति के एकानेक उदाहरण हैं—

अहो जण मणि सयज्जु परिचितहो मं धरवासि दम्महो ।
 स्वणपरियत्तविसमसमसंकुलगइ संसार धम्महो ।
 मंडलवइ जासु करंति सेव बंदिग्गहि पाविउ सोवि केम्ब ।
 जो गिज्जइ गेयवियक्खणोहं परिभमइं सोवि सहुं रक्खणोहं ।
 हुउ बहुमंडलवइनरवारु उच्चाइउ नियसुहिसयणविन्दु ।
 एहउ जाणोविणु मच्चलोइ मं करहु गव्वु संपयविहोइ ।

14.20

इसका आनुष्ठानिकभाग भी अत्यन्त प्रसन्न और समर्पणपूर्ण है—

सिरिच्चंढप्पहनाहु दीवंतर भविसनरिंदि ।
 अहिसिउ कल्लारिण परमेसरु जेम सुरिंदि ।
 मणवयकायनिवेशियचित्ति पवरधूववासेण विचित्ति ।
 देविणु दीवज्जुत्ति अंगारइ रणरणंतघंटाटंकारइ ।
 उच्चल्लिवि पसन्नथुइवयारिण अणुवासिय परिवसियवयारिण ।
 वहिघयपायसखइयनिओएं पुक्कक्खयफलदलसंजोएं ।
 तंवयपत्ति करिवि अणुराएं उच्चल्लिउ आरत्तिउ राएं ।
 जलकुसुमंजलि देवी बहुथुत्तुगिअगिरेण ।
 अक्खयफलघुसिणोहं निम्मच्छिउ नाहु नरेण ।

16.1

16.2

उत्साह तथा सजातीयभाव—‘युद्धवीर’ का एक ‘सतेज चित्र’ तब उपलब्ध होता है जब हमारा प्रधान पात्र संग्राम समारंभ में दत्तचित्त होता है। ‘श्रीत्सुक्य’ ‘अमर्ष’, ‘गर्व’, ‘असूया’, ‘मद’, ‘हर्ष’, ‘आवेग’ आदि भाव-लहरियां इसकी सहवर्ती हैं—

गुडिय महागइंद पक्खरिय तुरंगमजुत्त रहवरा ।
 भड सन्नद्ध बद्धविठपरियर दूरक्खित्तरणभरा ।
 तन्नो तम्मि काले भडछडवमाले महाजोहकूरे बुहुक्कंततूरे ।
 बले अण्णमाणे सुसन्नज्जभमाणे रणे नीसरंते भयं वीसरंते ।
 अहो इप्पयंतो पमाणं चडंतो पसायं चवंतो वियप्पंतचित्तो ।
 सज्जियजयमंगले घोसियमंगले पिक्खिवि पुत्तहोतरणिय सिय ।
 धरणवइहरियत्ताह पइसियवत्ताह छड्डिय वणि वावार किय । 14.8

युद्ध के साथ ‘जुगुप्सा’ का अविनाभावी संबंध है। घूलिभरे रणांगण में केवल हुंकार सुनाई पड़ती है। धरती रक्त-कंदम से भरी है। अंधकार और ध्वनि की भयंकरता युद्ध प्रसार को इंगित करते हैं। ‘अमोह’, ‘अभिमान’ और ‘मात्सर्य’ का कैसा संकर है—

तो हरिखरखरगसंधाट्टि छाइउ रणु अतोरणे ।
 रणं भडमच्छरग्गिसंधुक्कणधूमतमंधवारणे ।
 धूलोरउ गयणणु भरंतु उट्टिउ जगु अंधारउ करंतु ।
 नउ वीसइ अण्णु न परसखण्णु न गइंडु न तुरउ न गयणमण्णु ।
 तेहइवि कालि अक्सिट्टमोह हुंकारहु पहर मुअंति जोह ।
 किवि आहणंति विसी बहु मुरणेवि गयणज्जिउ हय्यंहे सिउ मुरणेवि ।
 किवि कोक्किवि पडिसइहो चलंति असिमुट्टिए नियलोयण मलंति ।
 धावंतु कोवि अहियाहिमाणु गयवंताहं भिन्नु अपिच्छमाणु ।
 कत्थइ पहराउरअयसमोह गयघड पयट्ट निहणंति जोह ।
 रउ नट्टु विहंठिउ भडखलेण महि मुहिय वणसोणियजलेण ।
 तो गयघडपिल्लिउ सुहडाहं भिल्लिउ अवरुप्परु कप्परियतणु ।
 सरजालोमालिउ पहरकरालिउ भमरावत्ति भमिउं रणु । 14.14

क्रोध तथा सजातीयभाव—‘उग्रता’, ‘अमर्ष’, ‘उद्वेग’, ‘चंचलता’, ‘मद’, ‘असूया’, ‘शुभ’, ‘आत्मावदान’, ‘स्मृति’, ‘आवेग’ आदि भावबीचियों से परिवृत्त ‘रौद्र चित्र’ तब मिलता है जब हमारे प्रधान पात्र को जाति की कायरता से जोड़कर अपमानित किया जाता है—

जो बइरिबरंगणहिययसल्लु समरंगणि जो मुहलोहमल्लु ।
 तुहं पुणु नरनाहहो जइवि मन्नु वाणियउ वुत्त पुणु काइं अण्णु ।

तं वयणु सुणेविणु भविसयत्तु नियकुलविवायपरिहवियण तत्तु ।
 आवेसवेसविण्फुरियनयणु जंपिउ सरोसु निड्डरियवयणु ।
 कुलकित्तिविणासणु मइलियसासणु किं बुल्लाविउ एह्णु खलु ।
 निसारिवि घल्लुहु लइ गलथल्लहो पावउ नियवुव्वयणफलु ।
 ए वि मणिय सरोसु चित्तंगहो वर्याण थिय विचित्तमो ।
 अणुवि नियजणेरे पिरणिविउ हुववहु जिह पलित्तमो
 सहभंडवि मइं उल्लविउ एम हउं परबलि भिडमि कयंतु जेम ।
 हउं वइरिवरंगराहिययसल्लु समरंगणिय हउं मुहलोहमल्लु । 13.8,9

भय तथा सजातीयभाव—‘स्मृति’, ‘शंका’, ‘चिन्ता’, ‘ग्लानि’, ‘आवेग’, ‘त्रास’,
 ‘जुगुप्सा’, ‘विषाद’, ‘दैन्य’ आदि संचारियों से सहवर्तित एवं ‘स्वरभंग’, ‘कंप’, ‘अश्रु’ आदि
 सात्त्विकों से अनुभावित एक ‘हुंकार चित्र’ तब मिलता है जब हमारे प्रमुख पात्र की
 वाग्दत्ता आपबीती सुनाने का उपक्रम करती है—

तं निययकुडुबु सुमरिवि अंगइं हल्लियइं ।
 हुअ गगिरवाय नयरइं अंसुजलोल्लियइं ।
 बहुअच्छरियवयणसंखुत्ति किउ हुंकार पुणु वि वणियउत्ति ।
 अंसु फुसंति चवइ मिगलोयण हेट्ठामुहमुहकमलपलोयण ।
 आवइ असुइ इत्थु बलवंतउ सो परिभमइं नयर जगडंतउ ।
 पट्टणिय तेण सयलु जणु मारिउ वल विट्ठियि समुद्धि संचारिउ ।
 केण वि कारणेण खलहुट्ठि हउं परिहरिय तेण पाविट्ठिं ।
 पुणु वि पुणु वि मं भीसिवि मिल्लिय, अच्छमि तेण इत्थु इक्कल्लिय ।
 सुंदर तुहु वि खणु वि मं थक्कहि, लहु मइ लेहि जाहि जइ सक्कहि । 5.12,13

‘विभावन’ भी कम संत्रासक नहीं है—

सो निएवि जालोलिभयंकर अण्णिफुलिर्दावितु सयसक्कर ।
 विरसु मुक्कु हुंकार भयावणु कुरुडकयंतलीलवरिसावणु । 5.18

शोक तथा सजातीयभाव—‘करुण’ का एक ‘अनावलंबन चित्र’ तब उपलब्ध होता
 है जब ‘बज्जोयर’ की मृत्यु पर कीर्तिसेना भावशून्य हो जाती है। ‘व्याधि’, ‘ग्लानि’,
 ‘मोह’, ‘स्मृति’, ‘दैन्य’, ‘चिन्ता’, ‘विषाद’ आदि भावबीचियां एक ही अघिष्ठान में
 अहमहमिका वृत्ति से एकत्र हैं—

तहो धरि किउ लोयाचार जाम हुअ कित्तियेण निज्जीव ताम ।
 जणणिएण छुट्टिउ भत्तारसोउ ओलगु ताहि धरसयलुलोउ ।
 नउ रअइ न कंबइ अषलविट्ठि गउ सपरिवाह धणमित्तु सिट्ठि ।
 जोइउ धणमित्तहो वयणु इट्ठु ओसरिउ कलणु कंदिउ अण्णिवु ।

हा भाइ पडिउ बुड्विसहु घाउ, अंधारिउ जगु अत्थामिउं ताउ ।
 पसरिउ बामोहतमोहजालु असरणु बुत्तर पडिवन्नु कालु ।
 पालिज्ज बिहिंमि जएणिण्हं सणेहु हउं एवांह उवसंधरमि वेहु ।
 कुलगोवलि तासु बसिबि सणेहपरंपरइं ।
 अणुहूयइं जाइं ताइंमि हुअइं भयंकरइं ।

20.6

सुमित्रा का शोक भी 'व्याधि', 'ग्लानि', 'मोह', 'स्मृति', 'दैन्य', 'चिन्ता', 'विषाद', 'आत्मावमान' आदि भावलहरियों से सहवर्तित है—

हा चंचल पहु ववगयसणेह कहु मिल्लिय हउ कंटइयवेह ।
 धरावइ बिगु पत्तिए तं जि गेहु पिक्खइ पजसंतु बहंतु देहु ।
 निवइ अप्पाणउ काउं दीणु तउ करिवि न सक्कमि हउं निहीणु ।
 सुप्पहधरणीधरपमुह कुम्बर न धरन्ति अंसु न नियंति अवर ।
 ता रोवइ तार सुत्तरियाउ नियवग्गो नं ओसारियाउ ।

22.3

निर्वेद और सजातीयभाव—'श्रीत्सुक्य', 'उत्साह', 'धृति', 'मति', 'ग्लानि', 'दैन्य' आदि संचारियों से सहवर्तित 'निर्वेद' का 'विबोध-चित्र' तब मिलता है जब हमारा प्रमुख पात्र संसार-त्याग की भावना से उद्वेलित होता है—

थिउ राउ परमकारणवियपु परिगलियविहवमाहप्पुबप्पु ।
 भाविवि अण्णिच्चु चंचलविहोउ तक्खणि ओसरिउ सयलु लोउ ।

21.1

क्योंकि—

चम्मट्टि सरीरु निर्वाड जाइ मसाणि लउ ।
 अह नियमगुणेह तेण जि लब्भइ परमपउ ।

20.9

तब उतावली केवल यह है और उपदेश भी यह है—

संसारि असारि जीउ असासउ च्लु विहउ ।
 तं किज्जइ मित्त जं पाविज्जइ परमपउ ॥

18.1

अतः सभी भाव-व्रीचियां प्रसन्न और प्रशस्त कक्षा की हैं, पर्याप्त वेगवान् अनुभूति भी और विचार भी। अनुभूति में प्रक्रिया है, तन्मयता है, अतः बदलाव के लिए आनंद और मुक्ति। आदर्श में बदलाव है, अतः आस्वाद से आस्वाद्य की प्रतिष्ठा। 'अविसयत्तकहा' का भी यही लक्ष्य है।

1. शृंगार प्रकाश—1. 4. 10
2. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु—श्लो० 1
3. प्रीत सन्दर्भ—विभाग 11
4. अथर्ववेद—10. 8. 44
5. बृहदारण्यकोपनिषद् 4. 3. 32
6. बही 4. 3. 21
7. नाट्यशास्त्र 7. 6
8. बही 6. 38
9. दशरूपक 2. 1
10. प्रमेयकमलमातृण्ड—पृ०—8, 11, 38—43
11. प्रमथानयतस्वालोकालंकार—पृ०—26
जैनतर्कवातिक,—पृ०—60
स्याद्रादमंजरी—पृ०—166
12. कथा जो सकल लोक हितकारी
सोइ पूछन चह सैलकुमारी । — मानस, 1. 107
13. स्नेह प्रकृति प्रेयान् ।
14. उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वासल्यम् ।
15. शृंगारवीरकरुणाद्भुतरीद्रहास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
16. शान्तोवाह्यभिषः पश्चात् वात्सल्याख्यस्ततः परम् ।
17. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
18. अन्ये तु करुणा स्थायी वात्सल्य दशमोऽपि च ।
19. अस्य ममकारः स्थायी ।
20. अतएव ईश्वर प्राणिधान—विषयेभक्ति श्रद्धे स्मृतिमतिवृत्तसाहानुप्रवष्टेभ्योऽन्य-
थैवांगमिति न तयोः पृथप्रसत्त्वेन गणनम्— ना. शा.
21. रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारी तथाजितः । भाव प्रोक्तः..... रसगंगाधर ।
22. साषरानुरक्तिः ईश्वरे—शांडिल्यसूत्र
23. सातु अस्मिन् परमप्रेमरूपा—नारदभक्ति सूत्र
24. रीद्राद्भुती च शृंगारो हास्यं वीरोदयस्तथा
भयानकश्च वीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः ।—श्रीमद् भागवत, श्रीधरी टीका

भविसयत्तकहा का कथारूप

— डॉ० गदाधरसिंह



कथा उतनी ही प्राचीन है जितनी सृष्टि । अपने जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मानव प्रकृति के क्रोड़ में किलकता, विहंसता, आनन्द मनाता और अन्त में उसी के आंचल की शीतल साया में सदा के लिए चिर-शान्ति में लीन हो जाता है । कथा की कला उसे प्रकृति से प्राप्त होती है । वृक्षों के हिलने में, कलियों के स्पर्श से उन्मत्त होकर बहनेवाले पवन की गति में, कूलों को ध्वस्त कर उच्छृंखल भाव से बहनेवाली सरिताओं के अट्टहास में एक कथा है । नानी की गोद में बैठकर बालक जिस जिज्ञासा-भाव से कथा सुनता है वह जिज्ञासा उसके रक्त के अणु-अणु में आजीवन विद्यमान रहती है । जिस भावना को मनुष्य किसी अन्य माध्यम से दूसरों तक नहीं पहुंचा सकता उसे बड़ी आसानी से वह कथाओं के माध्यम से पहुंचा देता है । यही कारण है कि साहित्य में कथा को इतना ऊंचा स्थान प्राप्त है ।

अपभ्रंश में कथा का विपुल साहित्य निर्मित हुआ है । इस विशाल कथा-साहित्य में कुछ तो व्रतमाहात्म्यमूलक हैं, कुछ उपदेशात्मक हैं और कुछ प्रेमआस्थानक । इनके अतिरिक्त कुछ रचनाएं ऐसी भी हैं जो कथाओं के संकलन हैं और काव्यरूप में उपलब्ध हैं । अपभ्रंश कथा-साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचनाएं हैं—भविसयत्तकहा, जिनदत्तकहा,

विलासवईकहा, सिरिपालकहा, सत्तवसणकहा, सुअंधदहमीकहा, पउमचरिउ, सदंसणचरिउ, जिनदत्तचउपई, कहाकोसु, पुण्णासवकहाकोसु आदि ।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन (४.७-८) में कथा के उपाख्यान, आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मंथलिका, मणिकुल्या, परिकथा, खंडकथा, सकलकथा और वृहत्कथा-ये दस भेद बताये हैं । उन्होंने आख्यायिका और कथा में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि आख्यायिका का नायक ख्यात होता है । उसमें उच्छ्वास होते हैं और वह संस्कृत गद्य में लिखी जाती है जैसे-हर्षचरित । इसके विपरीत कथा का नायक धीरशांत होता है । वह गद्य-पद्य दोनों में लिखी जा सकती है जैसे-कादम्बरी या लीलावती ।¹

जैन-साहित्य में पात्रों के आधार पर भी कथाओं का विभाजन हुआ है— 1. दिव्य 2. मानुष और 3. दिव्यमानुष ।²

दिव्यकथा वह है जिसके पात्र देवता, गन्धर्व, यज्ञ, विद्याधर आदि दिव्य-लोक के निवासी होते हैं । मानुषकथा के पात्र अपनी दुर्बलताओं तथा विशिष्टताओं से युक्त इसी धरती के मनुष्य होते हैं । दिव्यमानुष कथाओं के पात्र देवता तथा मनुष्य दोनों होते हैं । भौतिक-शक्ति-सम्पन्न ये देवता मनुष्य की तरह सोचते, विचारते तथा आचरण करते दिखाये जाते हैं ।

उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला³ में स्थापत्य के आधार पर कथाओं के ये पांच भेद किए हैं—सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा ।

सकलकथा आधुनिक उपन्यास और लघु कहानी के बीच की चीज है । आचार्य आनन्दवर्धन ने भी इसकी स्वीकृति दी है । खण्डकथा का उल्लेख अग्निपुराण⁴ (337.12) तथा ध्वन्यालोक⁵ (3.7) में भी हुआ है । यह कथा आधुनिक कहानी की तरह होती है जिसमें जीवन का एक लघुचित्र उपस्थित किया जाता है उल्लापकथा साहसिक कथा है । परिहासकथाएं हास्य एवं व्यंग्य का सृजन करती हैं । संकीर्ण या मिश्र कथा सभी कथाओं का मिला-जुला रूप होता है ।

इस तरह से कथाओं का वर्गीकरण जिस रूप में हुआ है वह वस्तुतः रुढ़िमात्र है । अपभ्रंश में कथा-साहित्य का विकास जिस रूप में हुआ है उस रूप में ये विभाजन आरोपित मात्र लगते हैं । अपभ्रंश में कथा, चरित, महाकाव्य आदि सभी के मेल से एक ऐसी-काव्य विधा का निर्माण हुआ है जिसे बंधी-बंधाई परिभाषाओं के चौखटे में आबद्ध नहीं किया जा सकता । इस प्रकार के कथा-काव्यों का कथानक दो भागों में बंटा हुआ होता है—प्रथम भाग में लोककथा एवं प्रेमकथा की सरसता होती है और द्वितीय भाग में कथानक धर्मकथा का रूप ले लेता है । धनपाल की भविसयत्तकहा में इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है । उन्होंने लौकिक निजन्धरी कथाओं के साथ जैनधर्म के सिद्धान्तों को

इस प्रकार धुला-मिला दिया है कि वे आकर्षक हो गये हैं। धनपाल मात्र कवि ही नहीं वरन् एक धर्मनेता भी हैं। वे जानते हैं कि सामान्य जनहृदय दर्शन के शुष्क सिद्धांतों की अपेक्षा सरस भावात्मक साहित्य से अधिक प्रभावित होता है। इसी कारण उन्होंने लौकिक आख्यानों को धर्मरूप और धार्मिक प्रसंगों को लौकिक रूप प्रदान किया है। हिन्दी के सूफी कवियों ने आगे चलकर यही पद्धति अपनायी। उन्होंने भी सूफी धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों की व्याख्या करने तथा अपने मत का उपदेश देने के लिए लोक में प्रचलित प्रेम-कथानकों का आश्रय लिया। जायसी के पद्मावत की मूल प्रेरणा क्या थी और उन्होंने भविसयत्तकहा या जैनों द्वारा रचित कथाकाव्यों से कितना कुछ ग्रहण किया यह शोध का विषय है किन्तु इतना स्पष्ट है कि अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए इन सूफियों ने उन लौकिक निजन्धरी कथाओं का आधार लिया था जिनकी परम्परा का सूत्रपात यों तो बहुत पूर्व ही हो गया था किन्तु उस धारा का व्यापक विस्तार जैन कवियों द्वारा हुआ, जिनमें धनपाल का विशिष्ट महत्त्व है। अतः यह कहना कि प्रेमकथाओं का सूत्रपात सूफियों के द्वारा हुआ है और वे भारत की भूमि में रोपी गयी अरबी कलम हैं, उचित नहीं है।

डा० शम्भूनाथ सिंह⁶ ने 'भविसयत्तकहा' को रोमांचक शैली का महाकाव्य माना है किन्तु इसमें प्रबन्ध-काव्य, कथा, आख्यायिका, चरितकाव्य, धर्मकथा सभी तत्त्वों का समावेश हुआ है। इस परम्परा का विकास गोस्वामी कुलसीदास के 'मानस' में भी मिलता है। उनका मानस कथा भी है, चरित भी, पुराण भी, और काव्य तो सर्वोपरि है ही। वे स्वयं कहते हैं—

(क) रामकथा मंदाकिनी (ख) मैजिमि कथा सुनि भवमोचिनि (ग) करहुं कथा मुद मंगल मूला (घ) भाषाबंध करब मै साईं (ङ) भाषा निबन्ध मति मंजुल मात नीति (च) रामचरित मानस ऐहिनामा (छ) कहं रघुपति के चरित अपारा इत्यादि।

रचनाकार ने "भविसयत्तकहा" को कथा कहा है—निसुणंतहं एह रिम्मल पुष्पपवित्तकह (1.4)। यह कथन सत्य भी है क्योंकि इसका लक्ष्य श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य वर्णित करना है। कथा के अन्त में व्रत का फल बताया गया है। उपदेशात्मक वर्णन, धार्मिक विवेचन, सिद्धान्त-कथन, कर्मफल की प्रधानता आदि के कारण इसका रूप धर्मकथा का है। इसके अतिरिक्त इसमें चरित-काव्य की विशेषताएं भी सन्निहित हैं। अपभ्रंश के चरित-काव्यों की विशिष्टता है—कथावस्तु में व्यास का समावेश। कथावस्तु में दो तत्त्व होते हैं—आयाम और व्यास। आयाम से तात्पर्य है सम्पूर्ण जीवन को आयतकर सीधी रेखा में गतिशील होनेवाली कथा और जब संघर्षों के उत्पन्न होने से कथावस्तु विभिन्न घटनाओं के ताने-बाने बुनने लगती है तब "व्यास" गुण उत्पन्न होता है। चरितकाव्यों में कथा का आयाम छोटा और व्यास विस्तृत होता है। मूल कथानक के चुने तथ्यों के अतिरिक्त लोक में इधर-उधर व्याप्त देश, काल और व्यक्ति सम्बन्धी उन तथ्यों को प्रस्तुत करना जिनसे नायक का कोई गौरव चाहे वह बीरत्वसूचक अथवा त्याग सूचक हो—व्यक्त होता हो, चरितकाव्यों के लिए अनिवार्य है।

‘भविसयत्तकहा’ में पाश्चात्य समीक्षा के शील वैचित्र्य को अच्छी तरह देखा जा सकता है। इसमें एक महनीय चरित अपने काव्यात्मक वातावरण एवं परिस्थितियों के विभिन्न व्यापारों के साथ चित्रित हुआ है।

चरित-काव्यों की शैली के अनुरूप वक्ता-श्रोता परम्परा के रूप में इस कथा को लिखा गया है। वक्ता हैं गणधर गौतम और श्रोता हैं राजा श्रेणिक। कुरुजंगल देश, भूपाल नामक राजा और धनपाल नामक वाणिक के चरितवर्णन के साथ कथा का प्रारम्भ किया गया है। परम्परा के अनुसार इसमें मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, काव्य-रचना का प्रयोजन, प्रत्येक संघि के प्रारम्भ में देव-बन्धना तथा अन्त में आत्म-परिचय, नायक के साहसिक कृत्यों, रोमांचक यात्राओं तथा अतिमानवीय शक्तियों का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

लोक-काव्यों तथा चरित-काव्यों की तरह इसमें कथानक रूढ़ियों का पूर्णतया समावेश किया गया है जैसे—सौतेली माता की ईर्ष्या, भाई का विश्वासघात, नायक का निर्जन नगरी में पहुंचना, दैत्य द्वारा बन्दिनी बनायी गई राजकुमारी का नायक द्वारा उद्धार, नायक का राजकुमारी से विवाह, नववधु का अपहरण, नायिका के शील की रक्षा, अलौकिक शक्तियों की सहायता से नायिका की प्राप्ति, मुनि से भेंट, पूर्वभवों का वर्णन, विमान-यात्रा, पूर्वभव के मित्रों द्वारा संकट में नायक की सहायता, शुभ-अशुभ शकुन, पक्षी द्वारा संदेश भेजा जाना इत्यादि-इत्यादि।

“भविसयत्तकहा” की शैली महाकाव्य की शैली है। इसकी 22 संघियों तथा 344 कडवकों में जीवन का सम्पूर्ण वृत्त आलंकारिक शैली में निबद्ध हुआ है। प्रबन्ध-काव्यों की छन्द-योजना, वर्णनशैली तथा काव्य-रूढ़ियों का सम्पूर्ण समावेश इसमें है।

यह रचना कडवक-बंध-शैली में रचित है। पञ्चटिका या अडिल्ल छंद की अनेक पंक्तियाँ लिखकर अन्त में घत्ता का ध्रुवक देना कडवक है। कडवकसमूह से संघि निर्मित होती है और चार पदडिका छन्द से एक कडवक-कडवक समूहात्मकः संघिस्तस्यादी। चतुर्भिः पदडिकाद्येच्छन्दोभिः कडवकम् । (हेम. छन्दोऽनुशासन 6.1 टीका)। पदडिका सोलह मात्रा का सममात्रिक चतुष्पदी छंद है जिसका अन्तिम चतुष्कल प्राकृत पैगलम् (1.125) के अनुसार पयोषर (1S1, जगण) होना आवश्यक है। हेमचन्द्र पादान्त में जगण का होना अनिवार्य नहीं मानते। कविदर्पणकार (2 37) ने कडवक-विधान के लिए पदडिया छंद का होना ही अनिवार्य नहीं माना है, दूसरे छंद भी हो सकते हैं।

पदडिकादिछन्दांसि चत्वारि चत्वारि कडवकम् । आदि शब्दाद्ददनाविपरिग्रह तेषां च कडवकानां गणसंघि संज्ञा । स्वयंभू ने पादाकुलक और अडिल्ल छंद का प्रयोग कडवक-विधान में किया है। भविसयत्तकहा में पदडिका का व्यापक रूप में प्रयोग है किन्तु इसके

साथ ही अडिल्ल छंद (1.12-16 संधि 2 सम्पूर्ण) का भी प्रयोग हुआ है। आठवीं संधि का तेरहवा कडवक सिंहावलोकन छंद में हुआ है।

एक कडवक कितने पदों का हो, इसका निश्चित नियम नहीं है। साधारणतः एक कडवक में सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिये। इस नियम का समान रूप से सबके द्वारा पालन नहीं हुआ है। भविसयत्तकहा में एक संधि में सामान्यतः ग्यारह से लेकर छब्बीस तक कडवक हैं। कम से कम दस तथा अधिक से अधिक तीस पंक्तियाँ एक कडवक में प्रयुक्त हैं। अन्त में घत्ता या ध्रुवक का विधान है। ध्रुवक का अर्थ है ध्रुव अर्थात् निश्चित। छन्द के अन्त में घत्ता का रहना ध्रुव अर्थात् निश्चित है अतः इसे ध्रुवक कहते हैं। यह घत्ता दोहे या उसके आकार का कोई छंद होता है। 'मानस' के अयोध्याकांड में आठ चौपाइयों के बाद दोहे का घत्ता देने का विधान है। यह इसी परम्परा का रूप है।

'भविसयत्तकहा' के वस्तु-वर्णन में महाकाव्योचित उदात्तता है। तिलकद्वीप की निर्जनता के बीच एकाकी भ्रमण करते हुए भविष्यदत्त की मानसिक दशा का जैसा सूक्ष्म विवेचन कवि ने किया है वह विरल है। प्राकृतिक दृश्यों एवं युद्ध तथा प्रेम का जैसा अलंकृत वर्णन इस काव्य में है वह एक महाकाव्य में ही सम्भव है। मुख्य कथानक के भीतर से ही अवान्तर कथाओं की योजना की गयी है। ये अवान्तर कथाएं कभी-कभी पूर्वभ्रम के वर्णन के रूप में हैं। जैसे—मुनि विमलबुद्धि के द्वारा भविष्यदत्त के भवान्तर की बातें बतलाना। कथा में शृंगार एवं वीर रस का परिपाक है किन्तु अन्त शान्त-रस-परक ही हुआ है।

संस्कृत के महाकाव्यों में यह आवश्यक माना गया है कि उसका नायक धीरोदात्त, धीरललित या धीरप्रशान्त में से कोई एक हो तथा वह देवता, उच्चकुलसम्भूत राजपुत्र या क्षत्रिय हो। जैन कवियों ने अपने प्रबन्ध-काव्यों में इस नियम का तिरस्कार किया है। "भविसयत्तकहा" का नायक वशिष्-पुत्र है किन्तु सदाचार के आचरण के कारण तथा किसी व्रत की साधना के फलस्वरूप लौकिक समृद्धि के साथ साथ पारलौकिक समृद्धि मुक्ति की प्राप्ति करता है। जहां तक महदुद्देश्य तथा महती प्रेरणा का सम्बन्ध है जैन कवि पूर्वजन्म के शुभ कर्मों तथा वर्तमान जीवन के सत्याचरण द्वारा सार्वकालिक जीवन-मूल्यों की स्थापना कर लोक-मंगल का मार्ग प्रशस्त करता है। अघ्यात्म की चर्चा, भोगों की निस्सारता, धार्मिक चेतना का उद्घाटन एवं समग्र जीवन की उपस्थिति के लिए धर्म-नायक का चित्रण ही भविसयत्तकहा का मूल स्वर है।

1. नायकस्यातस्ववृत्ता भाव्यर्थं शंसिवक्त्रादिः सोच्छ्रवासा संस्कृता । गद्ययुक्ता
आख्यायिका यथा-हर्षचरितादि । धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा ।
गद्यमयी कादम्बरी, पद्यमयी लीलावती ।
2. क-दिव्यं दिव्यमाणुसं माणुसं च । तस्य दिव्यं नाम जस्य केवलमेव देवचरित्रं
वरिणज्जइ—समराच्चकहा ।
ख-तं जह दिव्वा तह दिव्यमाणुसीं माणुसीं तहच्चेय ॥ लीला. गा. 35
3. तन्नो पुण पंचकहागो । तं जहा—सयलकहा, खंडकहा, उल्लावकहा, परिहासकहा ।
तहावरा कहियत्ति-सकिण्णकहति ।—कुबलयमाला, अनु०-7
4. आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा ।
कथानिकेति मन्यते गद्यकाव्यं च पंचधा ॥ अग्नि. 337.12
5. पर्यायबन्धः परिकथा खण्डकथा सकलकथे सर्गबन्धोऽभिनेयार्थमाख्यायिकाकथे
इत्येवमाशयः ॥ ध्वन्यालोक, 3.7
6. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शम्भूनाथ सिंह, वाराणसी, 1956
ई०, पृ० 186



भविसयत्तकहा का धार्मिक परिवेश

—श्री श्रीयांशकुमार सिघई

जैसे जलधाराविहीन बंजरभूमि के गर्भ में जल का अतुल स्रोत छिपा रहता है जो कभी भी अनुकूल अवसर मिलने पर जलधारा का रूप ले भूमि को रससिक्त कर देता है वैसे ही यह प्राणी भी अपने में धर्म या सुख के अनाद्यनन्त अविनश्यर स्रोत को समाये रखता है जो कभी भी अनुकूल पुरुषार्थ के परिपाक में धर्मधारा बन प्राणी को परम प्रसन्न बना देता है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों में धर्म की शक्ति तो होती है पर उसकी साम्प्रतिक अभिव्यक्ति नहीं होती। अभिव्यक्ति के बिना शक्ति सुप्त रहती है जिससे लाभांश की प्राप्ति संभव नहीं। जागरण के बिना लाभ कैसा ? शक्ति का तदनुकूल अभिव्यंजन ही उसका जागरण है। जागरण ही धर्म की धारा है जो अधिकांशतः धर्म के अभिधान से व्यवहृत होती है, इसे जानना सच्चाई को स्वीकारना है। सच्चाई है— धर्म पाया नहीं जाता जागृत किया जाता है। 'हमें धर्म पाना है' का मतलब है हमें अपने में ही अवस्थित, अनभिव्यक्त धर्म को मात्र जगाना है, अभिव्यक्त करना है, तदर्थ परावलम्बी नहीं स्वावलम्बी बनना है। जागरण का यह मन्त्र अर्थात् धर्म के मर्म का संदेश यथासंभव जैन महर्षियों और विद्वानों ने अपने साहित्य में अनुस्यूत किया है। वस्तुतः जागरण का यह लक्ष्य ही उनके साहित्य का जीवन है तथा अपनी अर्थवत्ता का सबल माध्यम भी।

अपभ्रंश साहित्य के एक उत्साही कवि घनपाल¹ भी जागरण के इस यज्ञ में पीछे नहीं रहे। उन्होंने अपनी लेखनी से भविसयत्तकहा का प्रणयन मूलतः इसी उद्देश्य से किया। लोकविश्रुत कथानक और भविष्यदत्त की कथा का चयन कर घनपाल ने मूल उद्देश्य निर्वहण और कविकर्मकौशल पर बल दिया है। वस्तुतः कवि अपनी सफलता के लिए सद्धर्मसुरभित उद्देश्य को जीते-जागते, तड़पते-फड़कते, रोते-बिलखते, हँसते-किलकते तथा खट्टे-मीठे शब्द-प्रवाह में बहाने का उद्यम करे, (मात्र कथानक के ख्यात होने की व्यर्थ चिन्ता न करे) क्योंकि अनुभूतिजन्य जीवित शब्दप्रवाह भी कवि की मौलिक सूक्ष्मका का ही परिणाम होता है।

हम घनपाल के कथानायक भविष्यदत्त को ही लें तो पायेंगे कि वह अपनी धर्म-शक्ति को जगाने का प्रयास करता है। जिनालय का भव्य वातावरण हो या संकट का काल अथवा मुनिश्री का समागम वह भक्तिरस में तल्लीन हो जाता है। अपनी ही धरा पर धर्मघासा बहाना उसे इष्ट है तभी तो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों में वह धर्म को नहीं भूलता तथा अन्ततोगत्वा अपने अभियान में अधिक गतिशील हो जाता है अर्थात् मुनि-दीक्षा ले तपश्चरण में प्रवृत्त हो जाता है जो सुसुप्त शक्तियों के जागरणार्थ अति आवश्यक है। घनपाल के अनुसार आगे ही सही अर्थात् चौथे भव में² वह अपने को पूर्णतः जगा लेता है, उसकी सारी शक्तियाँ जागृत अर्थात् अभिव्यक्त हो जाती हैं और वह आत्मा से परमात्मा बन जाता है मानो आत्मा का धरास्थानीय धर्म अपनी ही धारा से आप्लावित हो उठा है और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि के प्रकटीकरण से परमात्मपने को सार्थक बता रहा है।

इसके अलावा कमलश्री, भविष्यानुरूपा के जीवन का तथा घनवई, हरिदत्त एवं रानी प्रियसुन्दरी के त्यागमूलक आचरण-विधान का रेखा-चित्र खींचकर कवि ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उसने अपनी कृति को जागरण की मूलधारा से जोड़ा है।

यहाँ यह उल्लेख उचित ही होगा कि घनपाल ने अपने प्रबन्ध में कहीं भी धर्म की व्याख्या नहीं की और न ही मात्र उसका उपदेशात्मक विश्लेषण या प्रदर्शन ही किया। इसका सीधा मतलब है कि उन्हें धर्म की कोरी व्याख्याओं में विश्वास नहीं था। वे चाहते थे कि लोग धर्म को मात्र पढ़े ही नहीं हृदयंगम भी करें, उसे अपने जीवन में लायें। इसका उपाय उन्होंने वैसे आदर्शों के पुरस्थापन में ही अधिक माना।

जिस प्रकार किसी भी काव्य में साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश उनकी व्याख्या के बिना सहज संभव होता है उसी प्रकार धर्म की व्याख्या के बिना भी उसके प्रयोगाघृत मूल्यों का निर्वाह असंभव नहीं है। जब शृंगार वीर, वीभत्स आदि रसों तथा रूपक, उपमादि अलंकारों के परिभाषात्मक विवेचन के पचड़े में पड़े बिना ही कवि उनकी सहज अनुभूति पाठक की करा देता है तो घनपाल ने धर्म के उपदेशात्मक विवेचन के पचड़े में पड़े बिना ही धर्म को सहज जीवनानुभूति से जोड़कर समझाने में

अधिक सरलता अनुभव कर कौन सा अपराध किया है? कोई नहीं न? तो यह मानिये कि धनपाल ने धर्म को शब्दाडम्बर से नहीं जीवन के प्रायोगिक पहलुओं से समझने पर अधिक बल दिया है। यह एक अलग बात है कि उनसे अपने इस काव्य से जिन प्रायोगिक पहलुओं को समाविष्ट किया है भले ही वे हमें अपरिचित और आकर्षक न लगें पर उनसे समूचे काव्य को एक परिपुष्ट धार्मिक परिवेश प्रदान करने में कोई कसर नहीं रखी है।

भविसयत्तकहा को मात्र नयनाभिराम ही नहीं मननाभिराम बनाने पर हम पायेंगे कि कवि ने अपने कथा-पात्रों को भक्ति, कर्मवाद पर आस्था, व्रताचरण एवं नैतिकता निर्वहन के रंग में रंग कर इस प्रकार प्रदर्शित किया है कि पाठक उनके धार्मिक होने में कोई सन्देह नहीं कर सकता। फलतः एक धार्मिक परिवेश की अनुभूति उसे होने लगती है, जो स्पष्टतः जैन संस्कृति, दर्शन, धर्म एवं समाज से प्रभावित है।

भविसयत्तकहा के धार्मिक परिवेश पर जैनत्व का प्रभाव तथा सम्यक्त्वविशिष्ट पापकलंकमलशून्य जिनशासनोक्त श्रुतपंचमी के फल को उजागर करनेवाली कथा सुनाने हेतु पाठकों को दिया गया कवि का निर्देश³, ग्रंथारम्भ में दिया गया मंगलाचरण, प्रत्येक संधि के आरंभ में विहित वन्दनायें एवं यत्र-तत्र संवेदनशील स्थलों पर जैन परिवेश का स्पष्ट उल्लेख इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि कवि जैनधर्मावलम्बी था।

यहाँ हम यह भी उल्लेख कर देना चाहेंगे कि कवि अपने समूचे काव्य में मात्र आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभजिन एवं चन्द्रप्रभजिनालयों का ही उल्लेख करता है जो अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के प्रति उसके विशेष अनुराग का प्रतीक हैं। कारण कुछ भी हो पर सार्थक एवं मनोविचारित अवश्य होना चाहिये क्योंकि शातिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ इन तीन-तीन तीर्थंकरों की आवासस्थली के रूप में गजपुर⁴ (हस्तिनापुर) की उत्कृष्टता स्वीकार करके भी उनका तथा वर्तमान में जिनकी शासनप्रभावना है उन तीर्थंकर भगवान् महावीर का कवि द्वारा कहीं भी किसी भी रूप में किंचिदपि उल्लेख न किया जाना निश्चित ही कुछ सोचने को बाध्य करता है।

धार्मिक परिवेश की अभिव्यक्ति के लिए भक्ति का सन्दर्भ एक सशक्त माध्यम होता है अतः इस परिप्रेक्ष्य में यदि हम प्रकृत कथाकाव्य को कसौटी पर कसें तो कहना पड़ेगा कि धनपाल, श्रुतपंचमी व्रत के फल को प्रदर्शित करनेवाली कथा लिखकर भी श्रुतभक्ति का औचित्य नहीं बता सके हैं। औचित्य बताना तो दूर श्रुतभक्तिमूलक कोई निर्जीव शब्दचित्र भी हमें उनके काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि वे चाहते तो कमलश्री द्वारा श्रुतपंचमी व्रत ग्रहण किये जाने के अवसर पर आर्यिका अथवा मुनिश्री के माध्यम से श्रुत के महत्त्व को बताते हुए व्रतानुपालन के विधान में श्रुतभक्ति की आवश्यकता निर्धारित कर श्रुतभक्ति का सन्दर्भ अपने काव्य में जोड़ सकते थे अथवा

व्रतोद्यापन के समय श्रुतपूजन आदि का प्रसंग उपस्थित करके भी इसकी पूर्ति की जा सकती थी। ऐसा करने पर अर्थात् देव और गुरु भक्ति के साथ श्रुत भक्ति का भी समावेश कर देने से वे देव-शास्त्र-गुरु की उपासना को समान महत्त्व दे पाते। वैसे भी श्रुतभक्ति का प्रतिपाद्य श्रुतपंचमीफल प्रभावक होने से भविसयत्तकहा के लिए अत्यावश्यक एवं अपरिहार्य था, जिस ओर कवि का ध्यान ही नहीं गया। क्यों? यह विचारणीय है। देव-भक्ति और गुरु-भक्ति का निर्वाह भी जहाँ हुआ है वहाँ भावप्रवणता एवं रसास्वादन के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रायः यही दर्शाया गया है कि कोई पात्र विशेष देवपूजन, वन्दना, नमस्कार आदि के माध्यम से भक्ति में रत है। भक्ति की प्रक्रिया तथा उसमें भक्त का आनन्दविभोर हो उठना, मस्ती में भूमने लगना तथा गुणानुवाद के साथ गुणग्राहकता के लिए उत्कण्ठित होना आदि प्रदर्शित नहीं किया गया है। यदि कवि को थोड़ा भी अवकाश मिला है तो उसने वहाँ उपदेशात्मक या वर्णनात्मक सन्दर्भ जोड़ दिये हैं जो प्रायः भौतिक और शाब्दिक प्रतीकों तक ही सीमित हैं। यहाँ यह भूलना भी उचित नहीं होगा कि घनपाल ने इसे भक्तिकाव्य के रूप में नहीं लिखा है अपितु भक्ति के प्रसंग स्वयमेव कथा की धारा से यत्किञ्चित् रूप से जुड़ गये हैं और अपने यदवस्थित परिवेश से जैनधार्मिक होने की पुष्टि कर रहे हैं जिनमें से प्रमुखता के आधार पर कुछ का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—

1. पुत्रोत्पत्ति के एक माह बाद कमलश्री का पुत्र को गोद में लेकर जिन मन्दिर जाना और जिनवर की पूजन करना।⁵

2. मदनागद्वीप में अकेला छूट जाने पर भविष्यदत्त द्वारा वन में भटकना, हाथ पैर धोकर शिला पर आसीन होना तथा जिनदेव के स्मरण-पूर्वक पुष्पांजलि क्षेपण आदि से अर्चना करना। पुनश्च सन्ध्या हो जाने पर पंच परमेष्ठियों को हृदय में धारण कर परमपद का ध्यान करते हुए रात्रि बिताना।⁶

3. तिलकपुर में चन्द्रप्रभ जिनमन्दिर मिलने पर भविष्यदत्त द्वारा चन्द्रप्रभजिन की भक्तिभाव से पूजा किया जाना।⁷

4. भविष्यानुरूपा को दोहला होने पर भविष्यदत्त का सपरिवार तिलकद्वीप पहुँचना तथा जिन मंदिर में सभी के द्वारा भक्तिपूजनादि करना।⁸

5. चारणऋद्धिधारी मुनि के सबिनय दर्शन कर उनके पैर पूजना आदि।⁹ यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कवि ने कथा-प्रवाह के अनुरूप यथावसर मुनिजनों का समागम तो कराया है पर एकाधस्थल को छोड़कर पात्रों द्वारा उनके प्रति भक्ति का चित्र वन्दना आदि के रूप में उपस्थित नहीं किया, सीधे ही प्रश्नों के समाधान की जिज्ञासा व्यक्त हो गई है।

जैनसिद्धान्तानुसार जीव के दुःख का प्रमुख कारण कर्म माना गया है। भविसयत्तहका भी ऐसा ही कहती है क्योंकि उससे ध्वनित होता है कि यह जीव कर्मों को करके तदनुरूप कर्मकारणों के परिपाकबश संसार में परिभ्रमण करता है¹⁰ तथा स्वकृतकर्मानुसार उसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोगों का सामना करना पड़ता है। शुभकर्म अनुकूलता तथा अशुभकर्म प्रतिकूलता प्राप्ति के कारण बनते हैं। धर्म एवं उसकी साधना में सहयोगी कर्म शुभ माने गये हैं जिनका आचरण कर जीव अशुभ कर्मों से अपनी व्यावृत्ति कर लेता है। पुनश्च पुरुषार्थ की प्रबलता में अवशिष्ट समस्त शुभाशुभ कर्मों को तपश्चरण से प्रज्वलित ध्यानाग्नि में दग्धकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कर्मवाद पर धनपाल की दृढ़ आस्था है जिसकी पुष्टि कथापात्रों द्वारा सहज होती है। निदर्शनार्थ इतना ही पर्याप्त है—

1. पूर्वजन्म में कमलश्री ने गुरु की गर्हणा से धर्म का विनाश कर अशुभ कर्म बांधे थे।¹¹ वस्तुतः इन्हीं अनिष्ट कर्मों का उदय आने पर उसके वात्सल्य, प्रियवचन और कोमलता आदि गुणों से स्वीभ्रकर सेठ धनवई, जो कमलश्री का पति है, का मन फिर जाता है और वह उसे छोड़ देता है।¹²

2. बन्धुदत्त के साथ कंचनपुर न जाने हेतु जब कमलश्री भविष्यदत्त को समझाती है तो वह नाना प्रकार से कर्मवाद पर आस्था प्रकट कर कहता है कि जब मेरा भाग्य ही प्रतिकूल होगा तो यहाँ भी कोई अच्छा कैसे कर सकेगा ?¹³

3. मैनागद्वीप पर अकेला छूट जाने पर भविष्यदत्त सोचता है कि शतगुणों से परिपूर्ण विदग्ध व्यक्ति का भी देव जब पराङ्मुख हो उठता है तो वह क्या कर सकता है।¹⁴

4. चारणश्रद्धिधारी मुनिराज उपदेश देते हैं कि अशुभकर्मों के क्षयकारक, मधुर, प्रिय एवं निरपेक्ष धर्म को तुम जानो।¹⁵ फलस्वरूप तदनुरूपपरिणति हमें पात्रों में दिखाई देती है।

हम मानते हैं कि पात्रों में नैतिकता का निर्वहण किसी भी रचना के स्वस्थ एवं सुन्दर धार्मिक परिवेश के लिए अत्यावश्यक तत्त्व है। धनपाल ने तदर्थ नैतिकानैतिक आचरण का तुलनात्मक दृश्य उपस्थित कर धार्मिक परिवेश की सहजानुभूति कराने का उद्यम किया ही है। वह धर्म ही क्या जो लोकोदात्त भावनाओं से परे हो, जहाँ क्रोध, मान, ईर्ष्या आदि की ज्वालायें मनःसंताप का कारण बनती हों अथवा मानव मानव के अनर्थ का कारण हो। भविसयत्तकहा में कमलश्री—सरूपा, भविष्यदत्त—बन्धुदत्त आदि पात्र परस्पर नैतिकानैतिक आचरण की तुलनात्मक अनुभूति कराते हैं। विदेशगमन के अवसर पर कमलश्री की भविष्यदत्त को दी गई शिक्षा¹⁶ तथा सरूपा द्वारा बन्धुदत्त को दी गई क्रूरतम सलाह¹⁷ इसका एक निदर्शन है।

बन्धुदत्त द्वारा निर्जन और हिंसक जानवरों से युक्त बीहड़ मैनागद्वीप पर भविष्यदत्त को छोड़ दिये जाने पर जहाजस्थ बन्धुदत्त के हितैषी वणिक्जन भी इस क्रूरतम कृत्य की भर्त्सना करते हैं और एक स्वर से बोल उठते हैं—“यह अच्छा नहीं हुआ। हम सबका वाणिज्य निष्फल गया, अरे, यह तो हमारे साधुपन की लज्जा का व्यापार हुआ है। मैनागद्वीप पर भविष्यदत्त का कोई नहीं है और अब यहाँ हमारा भी कोई नहीं रहा, न यात्रा, न घन, न मित्र, न घर, न धर्म, न कर्म, न जीव, न शरीर, न पुत्र, न पत्नी, न इष्टजन और न ही दैव क्योंकि अधर्म ने धर्म को नष्ट कर दिया है और धर्म के नष्ट होने से सभी कार्य अकार्य हो जाते हैं। वास्तव में इस दुष्ट बन्धुदत्त ने यह दुष्कृत्य भविष्यदत्त को मारने के लिए ही किया है।”¹⁸

बन्धुदत्त के सहयोगीजनों द्वारा कही गई यह बात वस्तुतः निश्चल नैतिकता का आभास कराती है। कितना मार्मिक दृश्य है मानो नैतिकता का ख्याल कर सभी अन्दर ही अन्दर रो पड़े हों। परन्तु इससे क्या ? अन्याय का प्रतिकार न कर पाने से उनकी नैतिकता निष्फल रही है। यदि वे चाहते तो बन्धुदत्त को पुनः मैनागद्वीप पर जहाज खड़ा करने के लिए बाध्य कर सकते थे।

मेरा सोचना है कि लोकोपकारिणी नैतिकता जब फलोन्मुखी होकर किसी व्यक्ति में अपने संस्कार जमा लेती है तो वह निःसन्देह ही इन्द्रियलम्पटता से बचकर विषय-वासनाओं का गुलाम नहीं बनता तथा व्रताचरण से अपने देहाश्रित जीवन का सदुपयोग करता है जिससे सहज स्व-परकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। धनपाल के इस कथा-काव्य में भविष्यदत्त तो इसका उदाहरण है ही, अन्य पात्र भी तदनु रूप दिख जाते हैं।

निश्चल, निष्कम्प और निर्द्वन्द्व व्रताचरण अपने अनुषर्ता के धार्मिक होने का पुष्ट प्रमाण तो है ही तदनुवर्ती परिवेश या समाज को भी धार्मिक व्यपदेश से अलंकृत करने में पीछे नहीं रहता। वस्तुतः समाज की यह ब्याजस्तुति शनैः शनैः ही सही पर निश्चित ही ऐसे सपूतों को उद्बोधित करती है जो निराकुलसुखलाभार्थ धर्मसाधनानुकूल व्रताचरण को अपना लेते हैं। संभव है इसी महत्त्व को हृदयस्थ कर धनपाल ने अपने काव्य में व्रताचरण से गुम्फित सहज धार्मिक परिवेश निर्मित करने का संकल्प किया हो। यथावसर तो वे महाव्रतधारी मुनिजनों को सामाजिकों के सद्बोधनार्थ उपस्थित कर ही देते हैं किन्तु तिलकपुर में मुनि द्वारा श्रावक के अष्टमूलगुण एवं पंचअणुव्रतों का उपदेश¹⁹ दिलाकर कवि ने व्रताचरण की वास्तविक उपादेयता समाजजनों के समक्ष पुरस्थापित कर महनीय कार्य किया है।

व्रताचरण के सुरभित अग तपश्चरण के बल से समुपाजित ज्ञाननिधि द्वारा मुनिजन प्राणियों के पूर्वोत्तर भवों के वृत्तान्त जान लेते हैं तथा उचितानुचित का विस्तार कर यथावसर उसकी अभिव्यक्ति भी कर देते हैं। ऐसा होने पर प्राणी सहज ही धर्मसाधना में जुट जाते हैं। भविसयत्तकहा में भी मनोवेग और भविष्यदत्त के परस्पर प्रेम की शृंखला

पूर्वभवाश्रित है यह प्रतिपादित हुआ है जिसका सविस्तार वर्णन करने के उपरान्त मुनिश्री सभी को संसार की असारता तथा भौतिक वैभव को चंचल और अशाश्वत बताते हुए वह कार्य करने की प्रेरणा देते हैं जिससे परम-पद प्राप्त हो।²⁰ इससे फलित होता है कि प्राणियों का परस्पर प्रेम अथवा बैर जन्मजन्मांतर तक बना रह सकता है जो विशुद्ध रूप से सांसारिक प्रपंच है तथा असारभूत होने से सर्वथा त्याज्य धर्मधरा के ध्यान हेतु कितनी मार्मिक और सूक्ष्म प्ररूपणा हो गई है यहां ! पुनश्च वे भविष्यदत्त के पूर्वभवों का वर्णन²¹ करके प्रव्रज्या का महत्त्व²² बताते हैं फलस्वरूप भविष्यदत्त सर्वविध आभूषणों को उतारकर पंचमुष्टि से केशलुंचन कर महाव्रतों का अनुकरण करता है²³ । कितना महान् होगा वह अनुकरण जो राजवैभव आदि को तृण-तुल्य समझता है तथा कितनी महान् होगी वह विराग परिणति जिसके बल से महाव्रत पलते हैं ! यही है धर्म का अभिव्यंजन तथा सुसुप्त शक्तियों का जागरण ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कथा के अतिरुद्ध प्रवाह में व्रताचरण का निर्वाह काव्य में समाविष्ट धार्मिक परिवेश को साकार कर रहा है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भविसयत्तकथा का धार्मिक परिवेश पूर्णतः शिथिलाचार निरोधक, विशुद्ध, स्वस्थ एवं स्वच्छ परम्पराओं का पोषक है । इस छोटी सी कथा के सहारे कवि ने विपुलतया समीचीन जैन सिद्धान्तों का निर्वहण कर अस्खलित एवं वैराग्यमूलक धार्मिक परिवेश को परिपुष्ट किया है जो एक प्रशंसनीय कृत्य है और विद्वज्जनों द्वारा स्तुत्य ।

1. 14वीं शताब्दी, डॉ. दे. कु. शास्त्री, भविसयत्तकथा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य
2. भविसयत्तकथा 22.11
3. वही, 1.1
4. वही, 1.6
5. वही, 1.16
6. वही, 4.3.4
7. वही, 4.11-14
8. वही, 15.16-17
9. वही, 16.4-5
10. वही, 18.1
11. वही, 5.2
12. वही, 2.4

13. वही, 3.10-11
14. वही, 4.1
15. वही, 16.5
16. वही, 3.18
17. वही, 3.15
18. वही, 3.26
19. वही, 16.7-12
20. वही, 18.1
21. वही, 20 वीं संघि
22. वही, 21.7
23. वही, 21.11



भविसयत्तकहा में नीतितत्त्व

—डॉ० गंगाराम गर्ग



अपभ्रंश कथा साहित्य में घनपाल कृत 'भविसयत्तकहा' का बड़ा महत्त्व है। अपभ्रंश साहित्य के अन्वेषकों ने नगर, समुद्र आदि विभिन्न वर्णन, वात्सल्य, शृंगार एवं करुण रस के समन्वय तथा कथा-संगठन की दृष्टि से 'भविसयत्तकहा' को श्रेष्ठ कृति प्रमाणित किया है। 'भविसयत्तकहा' में जीवन के प्रेरक तत्त्व पर्याप्त हैं।

इसमें विशेषतः परिवार, अर्थ और वैयक्तिक व्यवहार अथवा सदाचार विषयक नीति-तत्त्वों का विवेचन हुआ है। बंधुदत्त और उसके पिता की चापलूसी और वैभव से प्रभावित हुए बिना भविष्यदत्त जैसे लुटे व निरीह व्यक्ति को न्याय देना किसी भी राजा या प्रशासन का उत्तम आदर्श है। इस राजनैतिक आदर्श के अलावा 'भविष्यदत्तकथा' में राजनीति कम है।

'भविसयत्तकहा' सीतिया डाह तथा एक सीत द्वारा दूसरी पत्नी की खुशियों को समूल नष्ट कर देने के प्रयत्न का कहानी है। सख्खा अपनी सीत कमलश्री को पति से दिलग करके ही उत्पीड़ित नहीं करती अपितु उसके पुत्र भविष्यदत्त को भी अपने पुत्र द्वारा पीड़ित करवाने की चेष्टा करती है। वह अपने पुत्र द्वारा 'भविष्यदत्त को नष्ट कर उसकी मां का मान-मर्दन करने की कीगई प्रतिज्ञा' को सुनकर बड़ी प्रसन्न होती है (3.16)। लोभवश और कुटिलतापूर्वक भाई को उसकी घन-सम्पत्ति के अधिकार से वंचित करने में

इन्सान को कोई संकोच नहीं होता, यह बंधुदत्त के चरित्र से स्पष्ट है। राजा द्वारा सरूपा और बन्धुदत्त को दिये गये दण्ड से पारिवारिक कुटिलता और अनीति के दुष्परिणाम भी द्योतित हुए हैं।

भारतीय नारी का पति के प्रति एकनिष्ठ, अचंचल और गम्भीर प्रेम विश्व-प्रशंसित है। धनपाल ने पार करने, पहुँचने और चलने में गहन मैनाक पर्वत के उपमान के रूप में स्त्री-प्रेम की गहनता की चर्चा की है। पति-पत्नी का विश्वासजनित गहन प्रेम समस्त गृहस्थ जीवन के सुख का आधार है। व्यवसाय आदि सामाजिक कारणों से यदि भारतीय नव-शोवना को प्रियतम से अलग होना पड़ जाय तो वह उस अलग-गव को सहसा सह नहीं पाती। उद्विग्न युवती मुखकमल को उठाये बिदा होते हुए प्रिय के मुख को निहारते रहने की चेष्टा करती रहती है, आँहें भरती है। अश्रुकरणों के प्रवाहित होते रहने पर उसके आँखों का काजल कपोलों को मलीन करता रहता है। व्यापार के लिए जाते हुए श्रेष्ठिकुमारों की विदाई के अवसर उनकी प्रियतमाओं की उक्त मन-स्थिति उनके अनुकरणीय प्रेम की साक्षी है—

उम्माहउ रणरणउ वहंतिउ पुणु पुणु पियमुहकमसु नियंतउ ।
 विरहदबग्निभुसुविकयकायउ, नियाणयपइ अणुअचिचि आयउ ।
 उम्मुहमुहकमलउ उहंडउ, कज्जलजललवमइलियगंडउ ।
 नियपइपिम्मपरव्वसिहिंअहिएणवजोवणइत्तियहि ।

उप्पायउ कासु न रहुवहउं जुवइहिं सासु मुबंतिर्यहि ।

3.20.7-11

पाणिग्रहण से प्राप्त नारी के आलिंगन को ही परितुष्टि देनेवाला कहकर धनपाल ने सदियों पूर्व स्वकीया प्रेम का आनन्द सर्वश्रेष्ठ ठहरा दिया है—

तं कलत्तु परिओसियगत्तउ,
 जं सुहिपाणिग्गहणि विटत्तउ ।

3.19.3

उन्होंने तो पर स्त्री को माता तक समझने की शिक्षा कमलश्री से भविष्यदत्त को दिलवाई है—

परकलत्तु मइं समउ गणिज्जहि ।

3.19.8

सुखद दाम्पत्य जीवन हेतु कई प्रेरणायें देने के अतिरिक्त धनपाल ने पारिवारिक कलह और उसके निवारण की स्थितियाँ प्रस्तुत की हैं। उनका मानना है कि एक ही सम्पत्ति पर अधिकतम अधिकार जमाने के इच्छुक परिजन एक दूसरे को कोई भी हानि पहुँचा सकते हैं। उनका चरित्र कौन जाने ? बन्धुदत्त के चरित्र पर आशंका रखते हुए यह तथ्य कमलश्री ने भविष्यदत्त से कहा है—

एककदम्बग्रहिलासविचिस्तइ,
को जाएण्हं वाइयहं चरिस्तइ ।

3.11.3

मनुष्य को कितना भी कष्ट मिले किन्तु वह अपने परिजनों के साथ घोखा न करे, अन्यथा उसे लोक-परलोक में सर्वत्र अपयश का पात्र बनना होगा। भविष्यदत्त के धन और स्त्री का अपहरण करके उसे घोखा देनेवाले बन्धुदत्त को अन्य श्रेष्ठपुत्र यही समझाते हैं—

उप्यणु जइ वि परिहउ गहीर,
धाइण्जइ तो वि ए नियसरीर ।
इहरत्तिपरत्तिवि ग्रहियदोसु,
वि सहिव्वउ कह बुब्बयघोसु ।

3.25.5-6

अर्थनीति

व्यवसाय और वणिक्वर्ग से सम्बन्ध रखने के कारण 'भविसयत्तकहा' में 'जीविका' एवं अर्थ-विषयक सिद्धान्त बेजोड़ हैं, 'भविसयत्तकहा' के अध्ययन से युवकों में उद्यम करने की प्रवृत्ति जागृत होती है तथा देश-विदेश में सफलतापूर्वक व्यवसाय चलाने की रीति-नीति की शिक्षा मिलती है। कमाने योग्य उन्न प्राप्त करते ही युवकों को पराश्रित होने की अपेक्षा स्वावलम्बी बनने की चेष्टा करनी चाहिये। बन्धुदत्त पिता के कमाये हुए धन को भोगते रहने में यश और कीर्ति नहीं मानता—

पियरी विठत्तु अत्थु विलसंतह,
कवरण कित्ति जसु कबणु जियंतह ।

3.8.6

युवावस्था प्राप्त होने पर भी व्यवसाय में रुचि न लेनेवाले वणिक्पुत्र को अपने समयवर्कों और समाज में लज्जित होना पड़ता है—

जइ ववसाइ वाउ एउ विउजइ,
तो एणयरहं मउिभु लउिजउजइ ।

3.12.6

विभिन्न सहयोगियों के साथ किसी बड़े व्यापार को चलाना धनपाल बुरा नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मनुष्य का अच्छा काम सहायक के अभाव में सिद्ध नहीं होता। बन्धुदत्त के साथ व्यापार करने की इच्छा रखनेवाले श्रेष्ठपुत्र उससे कहते हैं—

सुटठु वि एणरहं परिठ्ठियकायहं,
सिउभुइ किपि एण्हि असहायहं ॥

3.14.7

कुशल व्यवसायी देश और विदेश में दो बातों का बड़ा ध्यान रखता है। एक तो वह हर स्थिति में चोर और वंचकों से अपने धन की हर क्षण सुरक्षा रखता है। दूसरे,

शासन-व्यवस्था से जुड़े अधिकारियों व कर्मचारियों अथवा राजा, मंत्री आदि को उपहार द्वारा सम्मानित करता रहता है ताकि धनोपार्जन में कोई व्यवधान न आ सके। अपने दोनों पुत्र भविष्यदत्त और बंधुदत्त को व्यापार के लिए बाहर भेजते समय धनपति ने उक्त बातें उन्हें सिखाई हैं (3-21)।

राज्य सेवा, प्रशासन आदि की तरह व्यवसाय की सफलता में भी 'स्वभाव' की बड़ी भूमिका रहती है। यदि व्यवसाय की प्रवृत्ति के अनुकूल व्यक्ति अपना स्वभाव नहीं बना सका तो सफलता हस्तगत नहीं कर सकेगा। व्यवसायार्थ कनकद्वीप जाने के लिए उद्यत बंधुदत्त को धनपाल सेठ वणिक् का व्यवहार बतलाता है। उसके अनुसार व्यवसायी को अवसरानुकूल थोड़ा बोलना और रहस्यमय रहना चाहिये। पराये काम की चिन्ता न करते हुए भी अपने मतलब में सर्वथा दत्तचित्त रहना चाहिये। कुशल व्यवसायी हर तरह से धन बढ़ाने की चेष्टा करता रहता है। अपने पास की व्यापारिक सामग्री की वह प्रशंसा करता है। किसी को धोखा देता है तो हाथ के इशारे से, बड़ी सूक्ष्म चतुराई से। धनपाल द्वारा उल्लिखित कुशल व्यवसायी का यह स्वभाव आज भी उतना ही व्यवहार्य है जितना पहले रहा होगा—

सुहियहि हियउ एहिं अण्पिब्वउ, परिमिउं थोउ थोउ जंप्पिब्वउ ।

अत्थं विढप्पइ विविहपयारिहि, वंछिवि करसझासंचारिहि ।

अप्पुणु पक्खे भंडु सलहिब्वउ, अण्णहो चित्तु विचित्तु लहेब्वहु ।

अप्पुणु अंगु एहिं दरिसिब्वउ, अण्णहो तणउं परामरिसिब्वउ ।

परकज्ज सुणंतुवि एउ सुणइं अण्णण कज्जहो एउ चलइ ।

ए कलावइ केणवि णियचरिउ, परहो अंगि पइसिवि कलइ ।

3.6

धन कमाने को अधिक महत्त्व देते हुए तथा व्यवसायी की सफलता के लिए उसे व्यवहार-पद्धति सिखलाते हुए भी धनपाल उसी धन को श्रेष्ठ मानते हैं जिसके कमाने से धर्म का क्षय न हो—

तं धणुं जं अविण्णसियधम्मं, लब्भइ पुव्वक्कियसुहकम्मं ।

3.19.2

आचारनीति

वैयक्तिक सदाचार की उपादेयता व्यापक तौर पर सामाजिक हित की दृष्टि से ही है। कमलश्री और भविष्यदत्त को नियमित जिन-पूजा और व्रत-विधान में संलग्न दिखलाते हुए धनपाल ने धर्मभाव में रुचि रखने की प्रेरणा दी है। 'भविसयत्तकहा' में आत्मसंयम, आत्म-विश्वास, धैर्य, शंकाहीनता और मिष्टभाषण आदि नीतितत्त्वों को अपनाने के उपदेश मिलते हैं।

यौवन के बारे में धनपाल की धारणा है कि यह अंधा होता है। इस अवस्था में करने योग्य और न करने योग्य कार्यों का विवेक नहीं रहता। युवकों के मुग्ध नेत्र युवतियों के मुख-दर्शन-रस के लोभी बने रहते हैं। ऐसी अवस्था में आत्मसंयम अपेक्षित

है। धनपाल की धारणा है कि वही व्यक्ति शूरवीर या पंडित है जो परायी स्त्रियों के चंचल नेत्र और काम-पूर्ण वचनों से प्रभावित न हुआ हो-

होइ जुवाणभाउ सवियारउ, अमुणियकज्जाकज्जपयारउ ।
 रायणइं होंति जुवाणहं मुद्धउ, तरुणिवयणइंसणरस लुद्धउ ।
 जोवणवियाररसवसपसरि, सो सूरउ सो पंडियउ ।
 चलमम्मण वयणुल्लावएँहं जो परितियहि ण खंडियउ ॥ 3.18

समस्त दुष्कर्मों की जड़ अधर्म को मानते हुए धनपाल ने अधर्म की बड़ी निन्दा की है-

खयं जाइ नूनं अहम्मण धम्मं, विणट्ठेण धम्मण सव्वं अकम्मं । 3.26.7

कवि की दृष्टि में सभी कर्मों का साधक पुण्य है -

सिज्झइ किण्ण णारह कयउण्णहं, होइ सव्वु परिवाडिए पुण्णहं । 3.14.11

धनपाल बड़े आत्म-विश्वासी हैं। विपत्ति में घेर्य धारण करने की प्रेरणा देने के लिए वे ऐसा महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित करते हैं जो शायद आज तक किसी भारतीय नीतिकार ने नहीं कहा। उनके अनुसार जिस प्रकार अनचाहे दुःख व्यक्ति को कभी भी घेर लेते हैं उसी प्रकार क्या कभी सुख आकस्मिक नहीं आ जाते ?

अणइच्छियइं होंति जिम दुक्खइं,सहसा परिणवन्ति तिह सोक्खइं । 3.17.6

जीवन-आस्था धनपाल का प्रमुख लक्ष्य है। भविष्यदत्त के कथन के रूप में उनका विश्वास है कि जिस प्रकार आयु समाप्त होने पर जिया नहीं जा सकता उसी प्रकार आयु सीमा समाप्त न होने तक मृत्यु कैसे हो सकती है? फिर मृत्यु का भय कैसा ?

खुट्टइ जीविज्जइ जेम णवि, तेम अखुट्टइ णउ मरणु ॥ 3.12.13

सरूपा के प्रति सरल व्यवहार करने तथा दुष्ट वचन न कहने का निवेदन भविष्यदत्त ने अपनी मां से किया है। इससे स्पष्ट है कि धनपाल अपने विरोधी के साथ भी कपटपूर्ण आचरण और दुर्वचन पसंद नहीं करते (11-5)। उनका तो कहना है कि वाणी केवल सुनने में ही मधुर न हो अपितु बोलने का ढंग भी ऐसा हो जो आकर्षक लगे ताकि मन पर अच्छा प्रभाव पड़े -

अंपिज्जहि जणणयणावणु । 3.19.4

किसी भी काम को शंकाग्रस्त मन से करना समय की निरर्थकता तथा असफलता का सूचक होता है। नीतिकार मानते हैं कि यदि किसी काम की स्थिति अथवा परिणाम में थोड़ी भी शंका हो तो उसे जीवनभर नहीं करना चाहिये -

रिग्यमणि जेण संक उपज्जइ, मरणंति वि ण कम्म तं किज्जइ । 3.19.4

अपने पूर्व-विरोधी के प्रति पूर्ण विश्वास का भाव न बनाने की कूटनीति की तरफ धनपाल का संकेत है—

....पुव्वविक्खइ हियय ण विज्जइ । 3.16.1

“अति सर्वत्र वर्जयेत्” कह कर अतिवाद की निन्दा लोकजीवन में चिरकाल से होती आई है। विनम्रता, नीति-पालन जैसे सद्गुणों में अतिशयता आ जाने पर हानि उठानी पड़ती है। धनपाल कहते हैं कि अत्यन्त अनुराग से समवयस्कों में बड़प्पन नष्ट हो जाता है। अत्यन्त भय धन नहीं कमाने देता। अत्यन्त विनम्रता कायर कहलवा देती है। गुण ही नहीं, अधिक रूप भी घातक सिद्ध होता है—

अइयारिं वामोहु ण किज्जइ, समवयजणि पोढसणु हिज्जइ ।

अइरणएण जणि कायर वुच्चइ, अइभएण जइ लच्छिए मुच्चइ ।

अइमअेण वप्पुअइ णावइ, अइधिएण भोयणु वि ण भावइ ।

अइरुव तियरयणु विणासइ, अइयारिं सब्बहो गुणु णासइ । 3.12.2-5

पूर्व जन्म के कर्म-परिणामों की प्रबलता अथवा “भवितव्यता” या होनहार भारतीय मानस पर संस्कारजनित है। “तुलसी जस भवितव्यता जैसी मिले सहाइ” कथन उत्तर भारत के प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर मिलेगा। तुलसीदास से पूर्व धनपाल ने भी भवितव्यता में अपना विश्वास प्रकट किया है। वे कहते हैं कि जैसा होना होगा उसी के अनुरूप विचार और परिस्थितियाँ मनुष्य को अपनाती होंगी —

एरहो बुद्धि उप्पज्जइ तेम, होसइ पुव्वविहिउ जं जेम ।

3.8.8

सज्जनता और दुज्जनता के गुण-अवगुणों की चर्चा संतों की रचनाओं तथा तुलसीदास के रामचरितमानस में पर्याप्त हुई है। धनपाल ने तो अपनी “भविसयत्तकहा” में दोनों धारणाओं के प्रतीक पात्र कमलश्री-भविष्यदत्त तथा सरूपा-बंधुदत्त का आचार-व्यवहार भी प्रस्तुत कर दिया है। धनपाल ने समुद्र के उपमान के रूप में प्रस्तुत सज्जन के विशेष गुण गम्भीरता और धैर्य बतलाये हैं—

लखिउ समुब्बु जललवगहीर, सप्पुरिसु व थिर गंभीर धोर ।

3.52.5

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धनपाल केवल रससिद्ध कवि तथा प्रकृति वैभव के चित्तरे ही नहीं थे अपितु जीवन-दृष्टा भी थे। राजनीति, परिवार, व्यवसाय तथा सदाचार के विषय में कही गई उनकी उक्तियाँ तथा उनके अनुकूल प्रस्तुत जीवन्त तथा यथार्थ चरित्र भारतीय जीवन को दिशा देते रहेंगे।

भविसयत्तकहा में युग और समाज के संदर्भ

—डॉ० रामगोपाल शर्मा “दिनेश”

□

अपभ्रंश भाषा का सर्वप्रथम प्रकाशित काव्य “भविसयत्तकहा” (भविष्यदत्त कथा) महाकवि धनपाल की एक महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-कृति है। सन् 1918 ई. में एच. याकोबी द्वारा जर्मनी से और भारत में सन् 1923 ई. में बड़ीदा से इसका प्रकाशन हुआ था।

धनपाल नाम के चार कवियों का उल्लेख मिलता है। “भविसयत्तकहा” के रचयिता धनपाल का समय अन्तःसाक्ष्य के आधार पर चौदहवीं शताब्दी ठहरता है। स्वयं धनपाल ने उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह का आसीन होना बताया है। यह मुहम्मदशाह ही मुहम्मदबिन तुगलक था जिसका शासनकाल 1325 से 1351 ई. तक स्वीकार किया गया है। इतिहासकारों के अनुसार इस समय देश की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी तथा कई बार अकाल पड़े थे। धनपाल अपने काव्य में इसी संदर्भ में अपनी अनुभूतियों को काल-जयी बनाता है।

“भविसयत्तकहा” में कथा-शैली की वस्तु-व्यंजना है और उसी माध्यम से धनपाल अपने युग और समाज के बिखरे संदर्भ प्रस्तुत करता है। यद्यपि काव्य में युग की आर्थिक दशा की विषमताओं और नागरिकों की विपन्नता का विस्तार से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में वर्णन है, तथापि कथा की मूल भित्ति भरत क्षेत्र के कुरुजांगल (रोहतक, हिसार,

हरयाणा) में बसे गजपुर (हस्तिनापुर) की सम्पन्नता पर खड़ी की गई है। इस नगर की सम्पन्नता के सूचक राजा तथा नगरश्रेष्ठी हैं। भूपाल नामक राजा इस नगर का शासक है और धनवई (धनपति) नगरश्रेष्ठी है। ये दोनों ही विशेष नाम नहीं हैं। वस्तुतः एक राजसत्ता है और दूसरा धनसत्ता। धनपति का विवाह दूसरे नगरसेठ हरिबल की पुत्री कमलश्री से होता है। हरिबल को हरिदत्त ही बताया गया है। “हरि” विष्णुवाची है और कमलश्री वैष्णव पुराणों के अनुसार उनकी पत्नी। धनपाल ने इन दोनों को अपने ढंग से लोक-जीवन में एक कथा रच कर उतारा है और उसके माध्यम से अपने युग तथा समाज को संदर्भित किया है।

उस समय वैवाहिक जीवन की सफलता संतान की उत्पत्ति में मानी जाती थी। आज भी इस भावना का अंत नहीं हुआ है, यद्यपि परिवार छोटे रखने के लिए मानसिकता बनाई जा रही है। संतान न होने पर स्त्रियों का साधुओं-मुनियों की शरण में जाना और वरदान प्राप्त करना हमारी प्राचीन कथाओं का मुख्य अंग रहा है। “भविसयत्तकहा” में भी “कमलश्री” मुनि के पास जाकर संतान प्राप्ति की कामना व्यक्त करती है और उनकी भविष्यवाणी के अनुसार उसे भविष्यदत्त प्राप्त होता है।

पुरुषों के बहुपत्नीत्व का धनपाल की कथा-रचना में प्रमुख स्थान है। युगीन संदर्भ में एकाधिक विवाह एक मान्य प्रथा थी। धनवई का दूसरा विवाह “सरूपा” के साथ हो जाता है। यह “सरूपा” शब्द भी विशेषण मात्र है। उस युग के धनी सेठ बहु-पत्नी प्रथा के शिकार थे और वे रूपवती नव-यौवनाओं की खोज में रहते थे। धनपाल के काव्य का यह युगीन संदर्भ आज भी मानसिकता के स्तर पर नहीं बदला है, केवल कानून ने उन्हें ऐसा करने से वर्जित किया है। विचारणीय यह है कि धनपाल ने धार्मिक काव्य रच कर मनुष्य की जिन दूषित मनोवृत्तियों के प्रति घृणा को उभारा है, वे मनोवृत्तियाँ आज भी जीवित हैं। काम-वासना ही बहु-विवाह के मूल में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, यह तथ्य धनपाल प्रकाश में लाना चाहता है, क्योंकि वह “कमलश्री” का घर से निष्कासन तब दिखाता है, जबकि वह भविष्यदत्त जैसे सुन्दर एवं गुणवान् पुत्र की माँ बन चुकी है। इस वासना पर धनपाल स्वयं अनेक प्रहार करता है और इसके पोषक दोषों के प्रति भी सावधान करता है। वह मधु, मद्य और मांस का भक्षण वर्जित करता है। कहता है—

महु मज्जु मंसु पंचुवराइं ।

खज्जंति एण जम्मंतरसयाइं ॥

16.8

किन्तु जिनके पास धन है, वे वासना-जन्य दोषों के शिकार बने ही रहते हैं। “भविसयत्तकहा” की कथा काम और उसके पोषक धन की पिपासा के सहारे ही आगे बढ़ती है। उसमें एक ऐसा युग प्रस्तुत होता है जिसमें एक ओर आर्थिक विपन्नता है तो दूसरी ओर कुछ लोगों की आर्थिक सम्पन्नता, विलास और तज्जन्य गृह-कलहयुक्त आत्मसुख के लिए संघर्षरत है। इसी संघर्ष में एक ऐसा समाज उभरता है जिसकी मनोवृत्तियाँ

दूषित तथा अमानवीय व्यवहारों का समुच्चय बन गई हैं। एक ओर जीवन का यथार्थ है और दूसरी ओर कवि का काल्पनिक आदर्श, जो युगीन धर्म-नीति पर टिका हुआ है। धनपाल भविष्यदत्त के रूप में सुगुण-सम्पन्न व्यक्ति की कल्पना करता है और दुर्गुण-समुच्चय का यथार्थ बन्धुदत्त में प्रकट करता है। एक ओर कवि की कल्पना-सृष्टि कमलश्री है जो अपने पुत्र भविष्यदत्त को कंचनपुर की यात्रा पर जाते समय यह सिखाती है कि परायण धन और पराई स्त्री का स्पर्श मत करना। दूसरी ओर है बन्धुदत्त जो अपने नगर में जब तक रहा तब तक युवतियों के साथ अश्लिष्ट व्यवहार करता रहा। पूर्ण नगर उसके कुकृत्यों से तंग आ चुका है, तभी उसे योजनाबद्ध रूप से कंचन द्वीप भेजा गया है। इस प्रकार धनपाल का युग ऐसे युवकों से ऋस्त समाज का युग है जो अपनी पंतुक सम्पत्ति के उपभोग से उत्पन्न भ्रष्टाचार और दुराचार की प्रवृत्तियों का समुच्चय है। युवक ही नहीं सरूपा जैसी नारियाँ भी उस युग में विद्यमान हैं जो ईर्ष्या-द्वेष की दुष्प्रवृत्तियों का शिकार होकर स्वयं अमानवीय व्यवहार करती हैं और अपनी संतान को भी उसी व्यवहार की शिक्षा देती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि धनपाल मानव-मन की कुछ स्थितियों को शाश्वत बुराइयों से परिपूर्ण मानता है और उन्हें अपने युग के धनी पात्रों में चित्रित करता है, साथ ही उसी वर्ग के कमलश्री और भविष्यदत्त जैसे पात्र भी कल्पना से गढ़ता है जो धार्मिक अभ्यास से श्रेष्ठ मानवीय प्रवृत्तियों का विकास कर सकते हैं। धनपाल ने अपने युग के निर्धन पात्रों को इस यथार्थ और कल्पना के द्वन्द्व के लिए नहीं चुना, अपितु एक ही वर्ग को उदाहरण बनाकर प्रस्तुत किया है। उसकी कल्पना का भविष्यदत्त उस युग में समाज का वर्तमान नहीं, केवल भविष्य था। यह भविष्य धर्म-भावना के विकास से ही संभव है। भविष्यदत्त उसी विकास-यात्रा पर जाते हुए एक धार्मिक समाज का प्रतीक है।

दुर्गुणी बंधुदत्त समुद्र के मध्य में दुर्गम मदनाग पर्वत के जंगल में भविष्यदत्त को अकेला छोड़कर जलयान ले जाता है। उस भयानक जंगल में भविष्यदत्त अपनी धार्मिक भावना के बल से ही जीवित रह पाता है तथा भविष्यानुरूपा नामक सुन्दरी से विवाह करके समृद्धि और सुख के काल्पनिक युग में विचरण करता है। मनुष्य की धार्मिक भावना उसे सुख पहुंचाने का अन्तिम साधन है, यह बात धनपाल बार-बार दुहराता है। बंधुदत्त के जलयान में भविष्यदत्त जब भविष्यानुरूपा के साथ अपनी पुरानी नगरी को लौटना चाहता है तब वह पुनः बंधुदत्त के षड्यन्त्र का शिकार हो जाता है। वह अकेला उसी द्वीप पर रह जाता है तथा बंधुदत्त भविष्यानुरूपा को ले जाता है। मार्ग में वह भविष्यानुरूपा के समक्ष अपनी काम-वासना प्रकट करता है। यहाँ फिर धनपाल अपने युग के दूषित समाज का प्रमुख ग्रंथ बने हुए मनुष्यों के मध्य नारी को धार्मिक बल देता है और अपने शील की आस्था का आधार सुदृढ़ रखने के लिए प्रेरित करता है।

वस्तुतः धनपाल के युग का समाज अनेक प्रकार की अमानवीय बुराइयों से ग्रस्त है। उन बुराइयों से मुक्ति का साधन कोई कानून या कोई राजकीय विधान नहीं दिखाई देता। बंधुदत्त का कंचनद्वीप से धन लेकर लौटना समस्त नगर में आनन्द की लहर उत्पन्न

करता है किन्तु कमलश्री के अतिरिक्त किसी को भी उसके उस अमानवीय व्यवहार पर दुःख या क्षोभ नहीं जो उसने भविष्यदत्त के साथ किया है। इस प्रकार तत्कालीन समाज में दुराचारी के लिए न तो कोई सामाजिक दण्ड-व्यवस्था है और न ही कोई राजकीय दण्ड-व्यवस्था। कवि उससे मुक्ति के लिए केवल काल्पनिक आधार पर धार्मिक समाधान प्रस्तुत करता है।

धनपाल के युग का समाज ऐसे मनुष्यों का समाज बन चुका है जिसमें राजा और सेठ ही निर्मम नहीं, अन्य पुरजन-परिजन भी निर्दय हो चुके हैं। उस युग में अग्रर सद्गुणों की सुरक्षा की रीढ़ कहीं दिखाई देती है तो वह कमलश्री के रूप में प्रस्तुत की गई माता में। सख्या भी माता है, परन्तु उसमें वह मानवीय ममता नहीं। स्पष्ट है कि कवि कमलश्री के रूप में ममतामयी नारी की आस्था धार्मिक भावना के माध्यम से जीवित रखना चाह रहा है। वह उसमें एक परम्परागत करुणामयी माता का स्वरूप देखता है। कमलश्री भविष्यदत्त के बापिस न आने पर अत्यधिक दुःखी हो उठती है, उसका विलाप पथरों को भी द्रवित कर देनेवाला है। धनपाल ने लिखा है—

हा पुत्त पुत्त उक्कंठियाहि,
घोरंतरि कालि परिदिठियाहि ।
को पिक्खिवि मणु अम्भुद्धरमि,
महि विवरु देहि जि पइसरमि ।
हा-पुब्बजम्मि किउ काइं मइं,
निहिबंसणि जं नयणइं ह्यइं ।

8. 12. 13

मानवीय संवेदना से शून्य हो चुके युग में मां की ममता ही समाज को जीवित रखती है। धनपाल इस दृष्टि को “भविसयत्तकहा” में पर्याप्त गंभीरता से स्वीकारता है। पुत्र के लौटने पर उसी मां की आनन्ददशा का चित्रण इन शब्दों में करके कवि संवेदना के मानवीय फलक को शाश्वत बनाता है—

घरपंगणि पंकयसिरि धावइ,
अज्जिय जिणवयणइं परिभावइ ।
सुब्बय विहिमि जाम नवकारिय,
तो सविसक्खइं सन्न समारिय ।
हलि हलि कमलि कि धावहि,
पुत्तहो वयणु काइं ण विहावहि ।
सरहसु विन्नु सणेहालिगणु,
निवडिवि कम कमलहि थिउ नंइणु ।
मुहबंसणु असहंतइं नयणइं,
अंसु मुआइयाइं जिह रयणइं ।

9.7

धनपाल अपने युग की सामाजिक विकृतियों से लोक-जीवन को मुक्ति दिलाने के लिए जो कथारथ चलाता है, उसकी दिशा बहुत स्पष्ट है। वह अपने काव्य को सामान्य जन की श्रुतपंचमी बना देता है जो एक व्रत का रूप लेती है। यह व्रत क्या है? इस कथा का बार-बार श्रवण और स्मरण अर्थात् इस कथा के माध्यम से बार-बार इस तथ्य को ध्यान में लाना कि यह संसार दुराचार-पोषक कुप्रवृत्तियों से भरा हुआ है और उनसे जीवन को बचाने के लिए अपने मन को शुद्ध रखने की अनवरत साधना करना है। कोई भी धर्म इन मानवीय गुणों की पोषक साधना के बिना अपूर्ण है। धनपाल ने जैनधर्म को अपनी इस दृष्टि का प्रमुखतः आधार बनाया है।

यद्यपि धनपाल का युग पराधीनता का था, तथापि समाज में जन-भावना का आदर करने की प्रवृत्ति थी। नगरसेठ भी जन-भावना का तिरस्कार करने की सामर्थ्य नहीं रखता था किन्तु धनपाल ने जन-भावना के समादर की स्थिति विस्तार से या अनेक अनुकूल संदर्भों में नहीं दिखाई। इससे प्रतीत होता है कि यह भावना राजतन्त्र से आर्तकित थी।

“भविसयत्तकहा” में तत्कालीन समाज के विभिन्न रूढ़-विश्वास भी पर्याप्त मात्रा में चित्रित हुए हैं। इन विश्वासों में कुछ ऐसे हैं जो धार्मिक मान्यताओं से प्रसृत हैं और कुछ विश्वासों के पीछे परम्परागत स्वीकृति काम कर रही है। उदाहरणतः कर्म-सिद्धान्त और उसके आधार पर भाग्य-विश्वास धार्मिक विचारणा का प्रतिफल है, जबकि स्वप्न-विश्वास, साधु-संतों के शुभाशीष से सन्तान-प्राप्ति आदि की धारणा परम्परागत स्वीकृति रखती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धनपाल कृत “भविसयत्तकहा” केवल एक लकीर पीटने वाली कथा नहीं है, इसमें वर्तमान जीवन को रस देनेवाले अतीत का समाज भी एक विशेष दृष्टि से चित्रित और सम्बोधित है। अतः यह काव्य केवल धार्मिक कथा के रूप में पढ़ने का ही विषय नहीं है अपितु अपने सामयिक सामाजिक संदर्भों को भी जीवनोपयोगी बनाने का एक श्रेष्ठ साधन है। धनपाल की भविष्य भेदी दृष्टि का आधुनिक मानव समाज के लिए अत्यधिक उपयोग है। आवश्यकता इस बात की है कि हम धार्मिक कथाओं के अन्तर्निहित मन्तव्यों को समझें और युगानुकूल उनकी व्याख्याएँ करके सामाजिक सदाचार की भूमिका प्रशस्त करें।

महाकवि धनपाल की कुछ उक्तियाँ

अहं रिणद्धणु जणु सोहह न कोइ,
धणुसंपय विणु पुण्णहिंण रा होइ ।

अर्थ—इस संसार में निर्धन मनुष्य की शोभा (सम्मान) नहीं होती और न धन सम्पत्ति के बिना पुण्य ही होता है । 1.2.4

पिक्खि वि अइरावड गुलगुलन्तु,
कि इयर हस्सिय मा मड करन्तु ।

अर्थ—ऐरावत हाथी को चिघाड़ता देखकर क्या दूसरे हाथी मद नहीं करें अर्थात् चिघाड़ें नहीं ? 1. 2. 8

कि उइह मयंकि जोयंगणउ म करउ प्पह ।

अर्थ—क्या चन्द्रमा के उदय होने पर तारागण अपना प्रकाश नहीं करें ? 1. 2. 10



भविसयत्तकहा में जीवन का प्रतिबिम्ब

—डॉ. गजानन नरसिंह साठे



साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब कहाता है। उसका विधाता यदि अपने आप के प्रति ईमानदार हो और उसके फलस्वरूप जीवन की अपने द्वारा उपाजित सचाइयों की अभिव्यक्ति अपनी विरचित सृष्टि में करना चाहता हो तो वह अपने चारों ओर की देश-काल-जन-स्थिति के प्रति अनासक्त, अलिप्त नहीं रह सकता। वह अपनी सृष्टि के लिए पात्रों का, घटना-चक्र का चयन सुदूर अतीत से करे अथवा नितान्त कल्पना-लोक से करे, तो भी सच्चे साहित्यकार की कृति उसके अपने परिवेश से अनुप्राणित होती है। फिर, जन-मानस को प्रबोधित करने हेतु कथा-काव्य की रचना करनेवाला धनपाल जैसा कवि इसका अपवाद नहीं हो सकता।

धनपाल के विषय में जो अल्प-सी परन्तु असन्दिग्ध जानकारी प्राप्त है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि वे वैश्य-कुलोत्पन्न दिगम्बर जैन थे। वे विद्याओं और कलाओं की अविष्ठात्री देवी सरस्वती के कृपा-पात्र थे मानो उसके पुत्र ही थे। उन्होंने “भविसयत्तकहा” के समापन में कहा है—

धणसिरिदेविसुएण विरइउ सरसइसम्भविण ।

22.9.10

जननी धनश्री से जनमे पुत्र धनपाल की काव्य-कला के क्षेत्र की माता थी—
देवी सरस्वती। उन्हें ऐसी माता सरस्वती देवी से बहुत से महान् वरों की उपलब्धि हुई

है—सरसह-बहुलद्व-महावरेण बणिवरेण धरापाले चिन्तियं (1.4.4, 5)—इस “दुसम” काल में मुझ जैसे कवि ने जिसे देवी सरस्वती से बहुत-से महान् वर प्राप्त हैं, “सुयपंचमी” नामक कथा का वर्णन करने की सोची है। कवि ने अपने सम्बन्ध में जो यह कथन किया है उसमें ग्रहंकार की गन्ध नहीं है। बुध-जनों से विनम्रता-पूर्वक जो कवि अपने आपको “मन्द-बुद्धि शिग्गुणु गिररत्थु” (12.1) कहता है, वहीं यहाँ अपनी कवित्व शक्ति के विषय में इस उक्ति द्वारा आत्म-विश्वास अभिव्यक्त करता दिखाई दे रहा है।

“भविष्यदत्तकथा” का नायक भविष्यदत्त पहले अपने जन्म-दाता धनपति द्वारा उपेक्षित था। वह अपनी साहसप्रियता तथा उच्चाकांक्षा से प्रेरित होकर स्वयं खतरा मोल लेते हुए अपने सापत्न बन्धु बन्धुदत्त के साथ धन-सम्पदा का उपाजन करने के लिए चला गया। तब बन्धुदत्त ने उसे पारिवारिक विद्वेष से तिलक नामक द्वीप में एकाकी छोड़ दिया। फिर भी भविष्यदत्त ने धैर्य और हिम्मत से उस विपरीत परिस्थिति में धन-सम्पदा पायी और उस निर्जन द्वीप की राजकन्या भविष्यानुरूपा का पाणिग्रहण किया। यह सब उसके पूर्वभव के कर्मों के फलस्वरूप हुआ। वह जब अपने देश लौटने का यत्न करने लगा तो संयोग से असफलता और हानि को प्राप्त बन्धुदत्त से उसकी भेंट हुई। फिर से बन्धुदत्त ने छल-कपट से भविष्यदत्त की सम्पत्ति तथा पत्नी भविष्यानुरूपा का अपहरण किया और वह अपने नगर गजपुर लौटा। इधर भविष्यदत्त को मणिभद्र यक्ष ने गजपुर पहुंचा दिया। उसके सद्भाव से उसकी सम्पदा और स्त्री की उसे पुनः प्राप्ति हुई और गजपुराधिप भूपाल ने अपराधियों को दण्डित करते हुए भविष्यदत्त को सम्मानित किया और अपनी पुत्री सुमित्रा का उससे यथासमय पाणिग्रहण करा दिया।

भविष्यदत्त के जीवन की इन घटनाओं से इस बात पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है कि एक स्त्री किस प्रकार सापत्न्य भाव से अपने पुत्र को अपने सौतेले पुत्र का विनाश करने की प्रेरणा देती है, एक भाई अपने दूसरे भाई से किस प्रकार छल-कपट करता है, विश्वासघात करके कृतघ्नतापूर्वक उसका सब कुछ अपहरण करता है, किस प्रकार इन घटनाओं को देखनेवाले लोग डर और संकोच से चुप्पी साधे बैठते हैं और अन्त में दण्ड-भय से सत्य प्रकट करते हैं। इस समस्त असद्व्यवहार का कारण है—मनुष्य की स्वार्थ-लोलुपता, धन और स्त्री सम्बन्धी आसक्ति। संसार का इतिहास इसका साक्षी है—छोटे बड़े राजकुलों में, सम्भ्रान्त परिवारों में आये दिन इससे मिलती-जुलती घटनाएँ घटित होती रहती हैं। हाँ, संसार में अपने वैभव को पुनः प्राप्त करनेवाले भविष्यदत्त जैसे लोग बहुत कम होते हैं। कवि की दृष्टि से उसकी सफलता का रहस्य एक तो “कर्मवाद” में है और दूसरे उसने ‘कवि-सत्य’ (पोएटिक जस्टिस) का निर्वाह करना चाहा है जिसके अनुसार संसार में सज्जनता की विजय और दुर्जनता की हार होती है। कथा के इस अंश में “पौराणिक यथार्थवाद (माइथालॉजिकल रिअलिज्म)” पाया जाता है जैसे—तिलक द्वीप में घटित घटनाएँ, यक्ष द्वारा भविष्यदत्त की सहायता करना, आदि। शेष घटनाएँ भले ही घटित घटनाएँ, फैंकट्स न हों, फिर भी उनमें सत्य का आभास है—यहाँ तक कि पाठकों को वे घटनाएँ आँखों देखी सी जान पड़ती हैं, घटित घटनाओं का प्रतिबिम्ब सा

जान पड़ती हैं। भविष्यदत्त, उसका पिता धनपति, सौतेली माता सरूपा और उसका सौतेला भाई बन्धुदत्त, बन्धुदत्त के सहयात्री, ये सब इसी जगत् के हड्डी-मांस के जीवित लोग प्रतीत होते हैं। हाँ, भविष्यानुसूपा सम्बन्धी शुरू की घटनाएं कुछ अद्भुत सी जान पड़ती हैं परन्तु उसका शेष जीवनचरित, आचार-व्यवहार हमारी किसी जानी-पहचानी स्त्री का सा लगता है। बन्धुदत्त द्वारा अपहृत होकर जब वह गजपुर में उसके घर में रहने को विवश हुई तो किस प्रकार असहाय अवस्था में उसे रहना पड़ा, उसमें वह कैसे समय काट रही थी, यह सब बिल्कुल स्वाभाविक लगता है। युवा नारी के प्रति मनचले युवक का व्यवहार कैसा कठोर होता है, वह उसे भोग्या वस्तु मानकर उससे कैसे पेश आता है, इसका चित्रण कवि ने बड़े कौशल से किया है। आज बीसवीं शताब्दी में भी नारी को भेड़-बकरी से अधिक न माननेवाले युवक हैं तो सुदूर अतीत में वह कैसी दयनीय रही होगी, इसकी झलक कवि ने इसमें दिखायी है। बन्धुदत्त के अशिष्ट व्यवहार के संकेत तीसरी सन्धि में मिलते हैं। अधिक लाड़-प्यार का यह परिणाम है। नगर में भ्रमण करते हुए वह "दुष्णय (दुर्नय, अनीति-अन्यायपूर्ण बात)" करता है, वह "जोव्वण विचार-निम्भर-भरिउ" होकर श्रृंगार-सम्बन्धी बातों में "अच्चुम्भड (अत्युद्भट)" हो गया है। अमीरों के मनचले युवा पुत्रों का व्यवहार आज भी इससे भिन्न नहीं है।

जब बन्धुदत्त विदेश की यात्रा के लिए तैयार हुआ तो उसके पिता धनपति ने उसे जो उपदेश दिया तथा माता कमलश्री ने अपने पुत्र भविष्यदत्त को जो शिक्षा दी, उसमें जीवन की कटु सचाइयों की ओर स्पष्ट संकेत है (सन्धि 3)। इस प्रकार की शिक्षा देने-वाले माता-पिता आज भी पाये जाते हैं।

कवि ने नारी-जीवन की कतिपय कटु सचाइयों पर प्रकाश डाला है भविष्यदत्त की माता कमलश्री के जीवन-चित्रण के रूप में। बिना किसी उसके अपराध के उसके प्रति पति का प्रेम आहिस्ता-आहिस्ता क्षय को प्राप्त होता है, पति धनपति के मन में न जाने उसके प्रति कैसा सन्देह है। पितृ-गृह में उसे दिन गुजारने पड़ते हैं। उसके पिता हरिबल का मन भी क्षणभर संशयाकुल बनता है। कैसा है यह अबला जीवन! गनीमत इसी में है कि पितृगृह से उसे भगाया नहीं जाता, उसका पुत्र भविष्यदत्त महान् बनता है और अन्त में धनपति रत्नानि और पश्चात्ताप अनुभव करते हुए उससे क्षमायाचना करता है, उसके पांव पकड़ता है और अपने घर ले जाता है (सन्धि 12)। इसमें मौलिक मामलों में कुछ क्षति-पूर्ति तो हो गयी फिर भी कमलश्री को जो व्यथा सहन करनी पड़ी उसे कैसे भुलाया जा सकता है? कमश्री—सी अनेक उपेक्षिताएं चारों ओर दिखायी देती हैं। हां, अच्छा होगा, यदि उनमें से हर एक उपेक्षिता कमलश्री की भांति पुनः सुख-शान्ति को प्राप्त हो जाए।

अब न्याय-व्यवस्था का चित्र देखिये—गजपुर के राजा हैं भूपाल जो विशुद्ध-वंशोत्पन्न हैं, बहुत लोक-प्रिय हैं, जय-लक्ष्मी मराली के राजमराल हैं—अणवत्लहचरिउ

विसुद्धवंसु, जयलच्छिमरालिहि रायहंसु (1.7) । मध्ययुग में जो छोटे-बड़े प्रजा-वत्सल, न्याय के रक्षक रियासतदार या राजा हो गये हैं, उन्हीं की श्रेणी में भूपाल को स्थानापन्न किया जा सकता है । गजपुराधिपति भूपाल प्रजा का ध्यान रखता था । जब घनपति ने अपने विदेश गये हुए दोनों पुत्रों के न लौटने की बात उससे कही और बताया कि मैं अयश का भाजन हुआ हूँ—हउं भायणु हुउ अयसहो (6.9.2) तो राजा ने समुद्र-यात्रा करके व्यापार करनेवाले वणिग्जनों से पूछताछ की । उसी प्रकार, भविष्यदत्त ने जब बन्धुदत्त के अपराध के बारे में राजा से निवेदन किया तो उसने तत्काल उसे और उसके पिता को बुलाया और उनके अपराध को जानते ही उन्हें तथा बन्धुदत्त की माता को दण्ड दिया । जान पड़ता है, राजा से मिलना किसी को मुश्किल नहीं था । कहना न होगा कि प्रजा का ध्यान रखनेवाला राजा अपने नागरिक की बात गौर से सुनता है । यहां पर ऐसे नृपति के बारे में विशेष बात दिखायी देती है । उसने नगर के मुख्य-मुख्य लोगों को बुलाकर उनका मत जानना चाहा । उन्होंने विचार-विमर्श करके अपना मत बता दिया (10.11.12) । राजा ने जन-मत का आदर किया । परन्तु उसे जब भविष्यदत्त की स्त्री के अपहरण सम्बन्धी घटना का पता चला तो वह फिर क्रुद्ध हुआ । उसे लगा कि घनपति द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ आनाकानी की गयी है इसलिए उसने घनपति को भी बन्दी बनाया । इससे लोगों को दुःख हुआ । राजा को गुप्तचरों से पता चला कि नागरिक इस कारण से नगर छोड़ जाना चाहते हैं तो उसने फिर से जन-मत का आदर करके घनपति को मुक्त किया । इस समस्त घटना के चित्रण में राजा द्वारा प्रजाजनों को विश्वास में लेकर उनके मत का आदर किये जाने की बात महत्त्वपूर्ण है । ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन काल में भारत में ऐसे राजाओं का अभाव नहीं था ।

जान पड़ता है गजपुराधिपति भूपाल कोई साधारण राजा नहीं था । शत-शत सामन्तों द्वारा उसकी सेवा की जाती थी । देश-देश के राजा उसकी कृपा के अभिलाषी होकर उससे मिलने के लिए उपहार लेकर आया करते थे । भविष्यदत्त जब विदेश से लौटकर राजा भूपाल के दर्शन के लिए राज-प्रासाद गया तो उसे वहां अभोट, जाट, जालन्धर, गुर्जर, वैराट, लाट, गौड़ आदि देशों के राजा दिखायी दिये (10.1, 2) । इससे सूचित होता है कि महाराजा वा सम्राट् के दर्शन के लिए किस प्रकार दूर-दूर के राजा आया करते थे ।

हम देखते हैं कि भविष्यदत्त का भाग्योदय किस प्रकार हो रहा है—अब तक वह धन-सम्पन्न हो चुका है, राज-कृपा का अधिकारी भी हो गया है । तदनन्तर उसे राजनीति और संग्राम में भाग लेने का और उसमें भी यश को प्राप्त हो जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इस घटना से भविष्यदत्त के शौच, राजनीति-प्रावीण्य, आत्माभिमान, स्वामिनिष्ठा आदि कई विशिष्ट गुणों का परिचय प्राप्त हो ही जाता है । फिर भी उन दिनों राजाओं के परस्पर सम्बन्ध कैसे थे, युद्ध के कारण क्या होते थे, आदि बातों का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है । पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति-व्यक्ति के संघर्ष के बीज कांचन और कामिनी

सम्बन्धी आसक्ति में पाये जाते हैं। हाँ, इसमें एक और बात को भी समाविष्ट किया जा सकता है—वह है सत्ता या प्रमुता की लालसा। यह प्रमुता भूमि पर, धन पर, सेवकों और प्रजाजनों पर हो सकती है। वैसे ही दूसरे को भुकाकर, उसके ग्रहंकार को मिट्टी में मिलाकर अपनी प्रमुता—बड़ाई को स्थापित करने की कामना भी इसमें समाविष्ट है।

जान पड़ता है—पोदनपुर-नरेश उददण्ड है, प्रमुता का प्यासा है। चित्रांग नामक दूत ने राजसभा में अपने स्वामी का यह सन्देश सुनाया जिसमें स्पष्ट चुनौती ही दी जा रही थी। उसने पहले अभिमानपूर्वक “पोदनपरमेश्वर” का महिमा-गान किया और कहा—हय-गज-रथ मेंटस्वरूप दिये जाएं (13.3.1) और धनपति—सुत दीर्घबाहु भविष्यदत्त द्वारा तिलक द्वीप से लायी हुई कन्या तथा महारानी प्रियसुन्दरी की गुणसारभूता कन्या सुमित्रा भी साथ में दी जाय (13.4), कहना न होगा कि मध्ययुग, वा प्राचीनयुग में कुछ राजा इस प्रकार की मांग प्रस्तुत करते थे और यदि उसे स्वीकार न किया जाता तो वे उसकी बलात् पूर्ति करा लेने के उद्देश्य से उस देश पर आक्रमण किया करते थे। उसी प्रवृत्ति का यह नमूना है। इस चित्र का दूसरा अंश भी यथार्थ सा जान पड़ता है, देखिए—राजा भूपाल ने प्रियसुन्दरी, पृथुमति जैसी स्त्रियों तथा भविष्यदत्त जैसे गुणवान् लोगों और अन्यान्य मंत्रियों को बुलाकर उनसे विचार विमर्श किया। सभा में दिये हुए सुभाव वैसे ही हैं जैसे आम तौर पर पाये जाते हैं। मंत्रणा देनेवालों में अनन्त जैसे लोग भी होते हैं जो आत्माभिमान-शून्य होते हैं, शत्रु से गुप्तरूप से मिले हुए होते हैं। अनन्त, धनपति और भविष्यदत्त के कथन इस परिस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। आगे चलकर अनन्त तो खुले रूप से चित्रांग के साथ चला गया। हमारे यहां शासनव्यवस्था को अन्दर से कुरेद-कुरेद कर खोखली बनाने वाले तत्त्व अपरिचित नहीं हैं—अनन्त उसी का नमूना है। दूत सम्बन्धी व्यवहार में विशिष्ट नीति निर्धारित है। इस दृष्टि से यह प्रसंग देखने योग्य है। चित्रांग की अनर्गल बात सुनकर भविष्यदत्त क्रुद्ध होकर बोला—

पुणु पुणुवि सुमित्तहि कयपणीह कपेविणु करयलि घरहु जीह ।

उक्खणिवि नयण छिन्हेवि नासु मुंडिवि सिर खरि संजवहो दासु ॥ 13.12.5-6

भविष्यदत्त ने इस प्रकार उस दूत की जिह्वा को काटने, आँखों को उखाड़ने, नाक को छेदने और सिर को मुंडाकर उसे गर्दभ पर बँटाने की इच्छा व्यक्त की। पर धनपति ने उसे टोक कर कहा—प्रतिपक्ष के दूत पर इस प्रकार प्रहार नहीं करना चाहिए, उसमें अपयश होगा। (13.12.9)

यह समस्त प्रसंग नाट्यमय है। ऐसा जान पड़ता है कि उसे हम रंग-मंच पर मंचित रूप में देख रहे हैं।

युद्ध में विजयश्री ने भविष्यदत्त का वरण किया, तदनन्तर राजा भूपाल ने उसका अपनी कन्या सुमित्रा से विवाह करके उसे अपने आधे राज्य का स्वामी बना दिया। देखिए, अब विजेता ने जित राजाओं के साथ कैसा व्यवहार किया। भारतीय परम्परा

के अनुसार रघु आदि प्रागैतिहासिक काल के राजाओं ने, यहाँ तक कि मध्ययुग के कई शासकों ने पराजित राजाओं को सम्मानपूर्वक उनके अपने-अपने राज्य लौटा दिये थे। यह आदर्शनिष्ठ यथार्थ वा पथार्थाश्रित आदर्श है। आदर्श कहीं हमारे जीवन की परिधि के बाहर नहीं हैं, वे उसके अन्दर ही हैं। लक्ष्य मानकर उन्हें यथाशक्ति कार्यान्वित करने का यत्न करना चाहिए। राजा भूपाल और भविष्यदत्त ने जिन राज-पुरुषों को सम्मानपूर्वक बुलाया उनको समाहृत करके उन्हें उनके राज्य वापिस देकर लौटा दिया। भारत के इतिहास में ऐसी उदारता और उदात्तता के अनेक उदाहरण हैं, उन्हें कल्पनामात्र नहीं समझना चाहिए।

“भविसयत्तकहा” में बालक की नामकरण-विधि का उल्लेख है (1.16)। यह विधि सम्प्रदायविशेष की परम्परा के अनुसार सम्पन्न की जाती है। कवि ने कहा है— वस्त्राभरण विमूषित सुन्दर स्त्रियाँ पुत्र-जन्म के बाद एक महीना व्यतीत हो जाने पर माता (हरिबल-दुहिता, अर्थात् धनपति की पत्नी) और उसके नव-जात शिशु को लेकर जिन-मन्दिर गयीं। बालक को जिनवर के दर्शन कराये गये, पंच-मंगल कहे गये और बालक के कान में जिनेन्द्र का नामोच्चारण करके उसका नामकरण किया गया। कहना न होगा, धनपति धन-सम्पन्न था इसलिए उस समय रत्नों की बौद्धार की गयी।

धनपति-कमलश्री के विवाह का वर्णन पढ़ते ही बनता है। उससे तत्कालीन परिपाटी का स्वरूप समझ में आता है। मण्डप सजाना, तोरण तैयार करना, मोतियों से रंगावली सजाना, होम करना, वाद्य-वादन, बहुविध भोज्य वस्तुओं का सेवन कराना, ताम्बूलसेवन आदि का उल्लेख कवि ने किया है (1.2)। कमलश्री की सखियों ने वर को लक्ष्य करके हास-परिहास-मय कई बातें कहीं। उनसे यह चित्र जीवित-सा बन गया है।

कवि ने कई अन्यान्य मान्यताओं का, संकेतों का उल्लेख किया है। ये मान्यताएँ सभी युगों में एक-सी हैं। उदाहरण के लिए देखिए—कमलश्री की सखियाँ यथाकाल पुत्रवती हुईं, तब तक वह स्वयं सन्तान-हीन थी। अतः व्याकुल होकर उसने एक दिन एक मुनिपुंगव से पूछा—“परमेसर अकियत्थ किलेसइं कि अवसारिण अम्हतउ होसइ (1.14.3) तदनन्तर स्वप्न में उसने पुत्रजन्म के विषय में संकेत पाया। सन्तानोत्पत्ति के सम्बन्ध में किसी साधु वा सिद्धपुरुष या मुनि से पृच्छा करने का रिवाज आज भी कालबाह्य नहीं माना जाता। होनी की सूचना स्वप्न द्वारा प्राप्त हो सकती है, यह मान्यता भी पुराणकाल से चली आ रही है।

शिशु भविष्यदत्त की क्रीड़ाओं का वर्णन स्वभावोक्ति अलंकार का उत्तम उदाहरण है। सम्भ्रान्त जैन परिवार में उत्पन्न बालक को भी शिक्षा के लिए “उज्झासाल” अर्थात् “उपाध्याय के घर” भेजा जाता था। वहाँ पर छात्र को व्याकरण, कोश आदि अनेक कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। ज्योतिष, मंत्र-तंत्र, धनुर्विज्ञान, मल्लयुद्ध, गज-तुरंगचालन आदि का ज्ञान कराया जाता था。(2.2)। जन मान्यता का एक उदाहरण

संधि छः में पाया जाता है । जब कोई प्रिय व्यक्ति बहुत दिन प्रवास में हो तो उसकी माता या स्त्री या कोई अन्य विरहाकुल स्त्री कौए को किसी उपाय से उड़ जाने को बाध्य कर देती है और उससे मानो विनय करती है कि वह उसे अपने साथ ले आए । कवि कहता है, कमलश्री “दुक्खमहणव-खित्ती (डूबी)” है—उसे आसन, शयन, वचन नहीं भा रहे हैं । वह कौए को उड़ाकर उससे विनय करती है—

रडि वायस जइ कपि वियारण्हि भविसयत्तु महु पंगरिण आरण्हि । 6.1.7

ऐसी दुःखावस्था में मनुष्य, विशेषतः स्त्री इष्ट-पूर्ति के हेतु व्रत आदि ग्रहण करती है । आम तौर पर इस सम्बन्ध में मार्गदर्शन किया जाता है किसी बुजुर्ग द्वारा या गुरु द्वारा, सिद्ध-साधक द्वारा । संयोग से कमलश्री को एक सुव्रता नाम्नी महाव्रतधारिणी तापसी के दर्शन हुए । उसने कमलश्री को सुयपंचमी व्रत ग्रहण करने का उपदेश दिया । तब उसने व्रत धारण करके उसका निर्वाह किया (6.2.3) । यहाँ कहना न होगा कि धनपाल ने “सुयपंचमी” व्रत का माहात्म्य सूचित करने के लिए ही इस कथा का वर्णन किया है । कवि ने कथा के उपसंहार में भी सुयपंचमी व्रत की महत्ता की ओर संकेत करने के हेतु कहा है—

अहो लोयहो सुयपंचमिविहाणु इउ जं तं चिन्तिय सुहनिहाणु ।
 दूरयरपरणासियपावरेणु एह जा सा वुच्चइ कामधेणु ॥
 फलु देइ जहिच्छिउ मत्तलोइ चिन्तामणि वुच्चइ तेण लोइ ॥ 22.10

इस व्रत का धारी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।

भविसयत्तकहा के पात्र जैनमतावलम्बी हैं, वे भक्तिशील हैं । कवि ने यथास्थान इनमें से कई पात्रों की धार्मिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है । शिशु भविष्यदत्त को जिन-मन्दिर में ले जाया गया और वहीं पर उसके कान में जिन-नाम का उच्चारण करके उसका नामकरण किया गया (1.16), उसे गुरुशृह में “मुण्णिअक्खर” अर्थात् जैनागम आदि सिखाया गया (2.2) । तिलक द्वीप में जिन-मन्दिर था । भविष्यदत्त ने मन्दिर में जाकर जिनेन्द्र चन्द्रप्रभ का पूजन किया, स्तुति की (4.7, 12) । भविष्यदत्त और भविष्यानुरूपा का विवाह जिन-मन्दिर में सम्पन्न हुआ (4.22) । कमलश्री ने जैन परम्परा के अनुसार सुयपंचमी का व्रत रखा । इस प्रकार के और भी कई स्थानों का उल्लेख किया जा सकता है ।

जैनदर्शन में कर्म-सिद्धान्त का बहुत महत्त्व है । पूर्वजन्म में कृत-कर्म के भले बुरे फल जीव को भोगने पड़ते हैं । इस कर्म-सिद्धान्त की ओर इस कथा में कई स्थानों पर संकेत किया गया है । पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप कमलश्री पति द्वारा पहले उपेक्षित हुई और पुनः उसका भाग्य उदित हुआ । भविष्यदत्त का सम्पूर्ण जीवन-क्रम उसी कर्म के

परिणामस्वरूप चल रहा था। उसके फलस्वरूप ही मणिभद्र यक्ष उसकी सहायता के लिए दौड़ा। कवि ने इस सिद्धान्त के अनेक पहलुओं पर भविष्यदत्त आदि के शब्दों में प्रकाश डाला है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरणार्थ ही भविष्यदत्त आदि के पूर्वभवों की तथा परवर्ती भवों की कथा कही गयी है। दार्शनिक सिद्धान्तों का विवरण अभिनन्द द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

संसार में ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण कम नहीं हैं जिन्होंने सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचने पर सीधे वैराग्य को अपना लिया। जो जितना अधिक भोगी हो, परिग्रही हो, वह उतना ही त्यागी-विरागी बन सकता है। भविष्यदत्त द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करना इसी का यथार्थ नमूना है।

अन्त में इतना कहना पर्याप्त होगा कि कवि ने अपने चारों ओर के समाज के व्यक्ति, परिवार, शासन-व्यवस्था आदि में जो जीवन-प्रवृत्तियाँ देखीं, उनका चित्र, एक पौराणिक कथा के माध्यम से, उसके विशिष्ट उद्देश्य को नजर-अन्दाज न करते हुए, भविसयत्तकहा में अंकित करने का सफल प्रयास किया है।



भविसयत्तकहा (सुअ्र पंचमि फलु)

की संस्थान में प्राप्त पाण्डुलिपियों की प्रशस्तियाँ

—पं० भंवरलाल पोल्याका

□

1. वेष्टन सं० 748/पत्र संख्या 107/साइज 10 $\frac{1}{2}$ " × 4"/धरुवाल ।

अथ संवत्सरेऽस्मिन्नूप श्री विक्रमादित्य राज्ये संवत् 1564 वर्षे फाल्गुन सुदि तिथि पंचमि वार आदित्य अश्विनि नक्षत्र.....।

2. वेष्टन सं० 749/पत्र—94/साइज—10" × 5"/अपूर्ण ।

3. वेष्टन सं० 751/पत्र—97/साइज—11 $\frac{1}{2}$ " × 5 $\frac{1}{2}$ "/प्रति प्राचीन एवं जीर्ण है । पत्र तडकने लगे हैं ।

4. वेष्टन सं० 752/पत्र सं०—108/साइज—11" × 5 $\frac{1}{2}$ "/पूर्ण ।

संवत् 1588 वर्षे मार्गसिर सुदि 5 गुरवासरे लिखितं ठाकुरड श्री ब्रह्मदासु कायस्थु माथुर ॥ सुभ भवत् ॥

संवत् 1589 वर्षे श्रावण शुदि पौर्णमास्यां बुधवासरे श्रवण नक्षत्रे श्री पार्श्वनाथ चैत्यालये श्री मूलसंघ नंदाग्नाये सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्यनदिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्री जिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भ० श्री प्रभाचन्द्रदेवास्तच्छिष्य मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्रदेवाः तस्याग्नाये श्री खंडेरवालान्वये । वैद्य गोत्रे पंडित-शिरोमणि पंडित पद्मा तस्य भार्या पद्मश्रीः । द्वितीय भार्या सौहो । तत्पुत्र पंडित विष्णु । पं० सुरजन । तयोर्मध्ये पं० विष्णु । भार्या विजलि तस्य त्रयः पुत्राः । प्रथम पंडित श्री धर्मदास भार्या धर्मश्री । द्वितीय भार्या कोडमदे । तत्पुत्र पं० रेखा भा०

रिक्सिरि । द्वितीय भार्या लाडमदे । तत्पुत्र-जिरादास । द्वितीय पुत्र पं० मनोरथ भार्या मनसिरि । तत्पुत्र पं० देवा । तृतीय पुत्र पं० चौखा । भार्या चोखसिरि । तत्पुत्र प्रथम सुमतिदास द्वितीय ईसरदास एतेषां मध्ये पंडित घर्मदास त० भार्या घर्मश्री तथा लिखाप्य भविष्यदत्त पंचमी । आचार्य श्री माघनदिने दत्ता कर्मक्षयनिमित्तं । शुभं भवतु ॥

5. वेष्टन सं० 753/पत्र सं०—197/लिपिस्थान—मोजाबाद । साइज— $11" \times 4\frac{1}{2}"$ ।

संवत् 1595 माघ मासे शुक्लपक्षे तिथि 15 रविवासरे नक्षत्र अश्लेषा राजाधिराज कछवाहा करमचंद मोजाबाद मध्ये ॥ लिख्यतं रामदास ॥ ॥

श्री मूलसंघे नंदाग्नाये बलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टार श्री पद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री जिनचंद्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचंद्र देवास्तत्सिष्य मंडलाचार्य श्री घर्मचन्द्र देवास्तदाग्नाये खंडेलवालान्वये पाटणी गोत्रे सांगानयरि वास्तव्ये साह हेमा भार्या केलू पुत्राः त्रयः प्रथम साह सरवण भार्या लाडी तयोः पुत्रा साह डालू भार्या ऊदी तयोः पुत्र राणौ द्वितीय रामदास द्वितीय गोइद भार्या गौरी तृतीय टेहू भार्या टेहूसिरि द्वितीय साह हीरा भार्या त्यपरू तयोः पुत्राः त्रयः प्रथम दुग द्वितीय परवत तृती गोना । डूगर भार्या धरमा पुत्री द्वौ प्र० सा० चाचा द्वि० घोराज परवत भार्या पूना तयोः पुत्री द्वौ प्रथम सोढा । द्वि० छाजू गोना भार्या गंगा तयोः पुत्रः माघव । तृतीय सा० तेजा भार्या दामा । हीरा हीरा नाम्ना इदं शास्त्रं लिखाप्य ज्ञानपात्राय ब्रह्म कोल्हाय दत्तं ।

6. वेष्टन सं० 754/पत्र सं० 171/साइज— $12" \times 5"$ प्रति प्राचीन है ।

7. वेष्टन सं० 755/पत्र सं० 115/साइज— $12" \times 5"$ ।

सं० 1540 वर्षे आसौज सुदि 12 सनिवासरे घनिष्ठा नक्षत्रे लिखितं हेमा शुभं भवतु ।

श्री मूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक भुवनकीर्ति तत्पट्टे भट्टारक श्री ज्ञान भूषण गुरूपदेशात् मुनि श्री रत्नकीर्ति पठनार्थं खंडेलवाल ज्ञातीय साह लाला भार्या ललता दे सुत सा० वीरम भार्या वीलणदे भ्रातृ परवत भार्या पुहसिरि तत्पुत्राः बलराज नेतू एतैः ज्ञानावरणकर्म—क्षयार्थं लेखायित्वा दत्तं ॥छ॥

8. वेष्टन सं० 756/पत्र सं० 146/साइज— $10\frac{3}{4}" \times 5"$ ।

संवत् 1589 वर्षे । कार्तिक मासे शुक्लपक्षे । मार्गसिर मासे कृष्णपक्षे द्वेज वृहस्पतिवासरे श्री मूलसधे नंद्याम्नाये वलात्कारगणे सरस्वती गच्छे श्री कुंदकुंदा—चार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री शुभचन्द्रदेवा स्तत्पट्टे भट्टार श्री जिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री प्रभाचन्द्रदेवास्तत्सिष्य मंडलाचार्य श्री घर्मचन्द्रस्तदाम्नाये अजमेर महागढ वास्तव्ये राव श्री जगमल राज्य प्रवर्तमाने खंडेलवालान्वये गोधा गोत्रे । संघभारधुरंधर सं० पारस तद्भार्या पोसिरि तयोः पुत्राः प्रथम जिनपूजापुरंदर । सं० फाल्हा द्वितीय सं० साधु तृतीय जिनपूजपुरंदर सं० दामा चतुर्थ सं० । हासा । सं० । फाला भार्या फल्हसिरि ।

9. वेष्टन सं० 757/पत्र सं० 170/साइज— $9\frac{1}{2}'' \times 4\frac{3}{4}''$ /अपूर्ण प्रतिभीगी है ।

10. वेष्टन सं० 758/पत्र सं० 140/साइज— $11'' \times 5\frac{1}{2}''$ । प्रति भीगी और जीर्ण है ।

अथ संवत्सरेस्मिन् श्री नृपबिक्रमादीत्यगताब्दः संवत् 1582 वर्षे श्रावण सुदि 11 रविवासरे कुरुजांगलदेसे श्रीपालव सुभस्थाने श्री विराहिम राज्य प्रवर्तमाने श्री काष्टासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे उभयभाषाप्रवीण तपनिधिः श्री माहबसेनदेवाः तत्पट्टे सिद्धान्तजलसमुद्रः भट्टारक श्री उद्धरसेनदेवाः तत्पट्टे विवेकलोकेकमलिनीविकासनैक दिनमणिः भट्टारक श्री देवसेनदेवाः तत्पट्टे कविविद्याप्रधान भट्टारक श्री विमलसेनदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री घर्मसेनदेवाः तत्पट्टे भट्टारक श्री गुणकीर्तिदेवाः तत्पट्टालंकार श्रीयसःकीर्तिदेवाः तत्पट्टे वादीभक्तुभस्थलविदारणककेसरि भट्टारक श्री गुणभद्रसूरि तस्य शिष्य चारित्रचूडामणि मंडलाचार्य मुनि क्षेमकीर्ति तदाम्नाये अग्रोतकान्वये गर्गागोत्रे वसेईवास्तव्ये पंचमी उद्धरणधी श्रावकाचारदक्ष साधु छाजू तद्भार्या साधी तस्य पुत्र तीन प्रथम पुत्र साधुधी दुतिय पुत्र साधु पाल्हा त्रितिय पुत्र साधु लाडमु तद्भार्या साध्वी कल्हो तस्य पुत्र तीन प्रथम पुत्र साधु गेल्हे तद्भार्या साध्वी प्यारी तस्य पुत्र चारि प्रथम पुत्र देवगुरुसास्त्रभक्तु सास्त्रदानदायकु साधु पचाइणु साधु गेल्हे दुतिय पुत्र साधु रणमलु त्रितिय पुत्र साधुराज चतुर्थ पुत्र साधु भोजराजु साधु लाडम दुतिय पुत्र पंडित गुण विराजमान पंडित हरियालु तद्भार्या सीलतोयतरंगिणी विनयबागेस्वरी साध्वी सरो तस्य पुत्र तीन प्रथम पुत्र साधुजीवंदु दुतिय पुत्र साधु देईदा त्रिति पुत्र साधु मारिकचंदु साधु लाडम त्रितियपुत्र साधु सिउराजु तद्भार्या साध्वी सुनखा पंचमी उद्धरणधीर साधु गेल्हे सुतु साधु पचाइणु तेन इदं श्रुतपंचमी भविसदत्त सास्त्र लिखाततं । पंचमी उद्धरणधीर श्रावकाचारदक्ष चतुर्विधदानकल्पवृक्ष साधु जगमल उपकारेन ॥छ॥

श्रावक के अष्ट मूलगुण

(धनपाल की दृष्टि में)

महु मञ्जु मंसु पंचवराहं,
खज्जति न जम्मंतरसयाहं ।
दिज्जति न कहुवि हियत्तणेण,
पहु चित्तिज्जति वि नियमणेण ।
अन्नहो वि असंतहो अहियदोसु,
न करिष्वउ मणि अहिलासु तोसु ।
ते अट्ट मूलगुण एम होंति,
विणु तेहि अन्नउत्तर न ठंति ।

भावान्तर—(श्रावक द्वारा) मधु, मद्य, मांस और पांच उदम्बर फल (वड़, पीपल, पांकर फल, कठुम्बर और अंजीर) जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं खाये जाते और न किसी को भी हितपने से दिये जाते हैं; (उसके द्वारा तो) अपने मन से प्रभु का चिन्तन किया जाता है ।

दूसरे के अशांत होने पर भी उसकी इच्छापूर्ति का अहितकारी दोष मन से भी नहीं करना चाहिए ।

ये आठ मूलगुण इस प्रकार के होते हैं । बिना इनके अन्य उत्तरगुण नहीं होते ।

भवि. 17.8.1-4

पुराण-सूक्तिकोश

[साहित्य मनीषियों ने सूक्ति को साहित्य की मुक्तक-काव्य-विधा के अन्तर्गत गमित किया है, कारण कि यह मुक्तक काव्य दोहा आदि की भांति ही पूर्णरूप से स्वतन्त्र होती है, किसी पूर्वापर काव्यांश से इसका सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है।

सूक्ति की भाषा चमत्कारपूर्ण होती है। वह श्रोता अथवा पाठक के मानस पर सीधी चोट करने-उसे पूर्णरूप से प्रभावित करने का सामर्थ्य रखती है। श्रोता अथवा पाठक काव्यमर्मज्ञ चाहे न हो किन्तु सूक्ति के शब्द सुनकर भावविभोर अवश्य हो उठता है, उसे ऐसा अनुभव होता है मानो किसी ने उसके कानों में मधुर-रस की धारा प्रवाहित कर दी हो।

सूक्ति के भावों को, उसके कथ्य को उसमें प्रयुक्त शब्दों का सीधा-सादा अर्थ करके नहीं समझा जा सकता। उसके लिए अभिधा का परित्याग कर व्यंजना का सहारा लेना पड़ता है। ऐसा करके ही सूक्ति के यथार्थ को हृदयंगम किया जा सकता है।

सच्चा साहित्य वह होता है जो हित, मित एवं प्रिय हो। साहित्य की यह परिभाषा सूक्ति पर पूर्णरूप से घटित होती है। वह सर्वहितकारी होने से त्रैकालिक सत्य का प्रतिपादन करती है। ऐसी सूक्ति हो ही नहीं सकती जो किसी के लिए अहितकारी हो। कर्णप्रिय तो वह होती ही है किन्तु सबसे बड़ी विशेषता जो उसमें होती है वह है उसका मिताक्षरी होना। सूक्तिकार कम से कम शब्दों का प्रयोग करके अधिक से अधिक जो कहना चाहता है कह देता है। वास्तव में "गागर में सागर" वाली उक्ति पूर्णरूप से सूक्ति पर घटित होती है।

पुराण हमारे साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। जैनपुराणकारों ने जितने भी साहित्य का निर्माण किया है वह सब जनकल्याण की पवित्र भावना से ओतप्रोत होकर ही किया है अतः यह स्वाभाविक है कि उनमें इस प्रकार की सूक्तियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हो। सूक्तियों की उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए संस्थान ने पुराणों में प्रयुक्त सूक्तियों का एक संग्रह प्रकाशित करने का निश्चय किया है। एतदर्थ प्रयोग के रूप में उसने संस्कृत के इन पांच प्रमुख जैन पुराणों का चयन किया है—1. महापुराण 2. हरिवंशपुराण 3. पाण्डवपुराण 4. पद्मपुराण और 5. वर्धमान पुराण।

इस संग्रह का कुछ अंश जैनविद्या पत्रिका में प्रकाशित किया जा रहा है जिससे कि विद्वान् पाठकों की इस सम्बन्ध में सम्मति ज्ञात की जा सके।

(प्रो.) प्रवीणचन्द्र जैन
सम्पादक]

पुराण सूक्तिकोश

अनुप्रेक्षा

1. विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभम् । म. पु. 42.127
2. मनुष्यजीवितमिदं क्षणान्नाशमुपागतम् । प. पु. 118.103
3. सर्वं भंगुरं विश्वसंभवम् । व. च. 5.101
4. क्षणध्वंसि जगत् । व. च. 11.133
5. विद्युदाकालिकं ह्येतज्जगत्सारविवर्जितम् । प. पु. 110.55
6. कस्यात्र बद्धमूलत्वं ? म. पु. 66.11
7. कोऽत्र कस्य सुहृज्जनः ? प. पु. 12.51
8. न कोऽपि शरणं जातु रुग्मृत्यावेस्तथाङ्गिनाम् । व. च. 11.14
9. संसारे सारगन्धोऽपि न करिष्वदिह विद्यते । प. पु. 78.24
10. संसारं दुःखभाजनम् । प. पु. 8.220
11. संसारः सारवर्जितः । प. पु. 12.50
12. निःसारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः । म. पु. 17.17
13. असारोऽयमहोऽत्यन्तं संसारो दुःखपूरितः । प. पु. 39.172
14. प्राप्यते सुमहद्दुःखं जन्तुभिर्भवसागरे । प. पु. 5.121
15. दुःखं संसारसंज्ञकम् । प. पु. 2.181
16. एकाकिनैव कर्तव्यं संसारे परिवर्तनम् । प. पु. 5.231
17. एक एव भवभूत्प्रजायते मृत्युमेति पुनरेक एव तु । ह. पु. 63.82

- अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन किये बिना चित्त का समाधान कठिन है ।
- मनुष्य का यह जीवन क्षणभर में नष्ट हो जाता है ।
- संसार में उत्पन्न सभी वस्तुएं क्षण-मंगुर हैं ।
- संसार क्षणमंगुर है ।
- संसार बिजली के समान क्षणमंगुर तथा सारहीन है ।
- इस संसार में मजबूत जड़ किसी की नहीं है ।
- संसार में कोई किसी का मित्र नहीं है ।
- प्राणियों को रोग और मरण से बचाने के लिए कोई भी शरण नहीं है ।
- संसार में कुछ भी सार नहीं है ।
- यह संसार दुःख का स्थान है ।
- संसार असार है ।
- वस्तुतः इस असार संसार में लेशमात्र भी सुख दुर्लभ है ।
- यह संसार असार और अत्यन्त दुःख से भरा है ।
- प्राणी संसाररूपी सागर में बहुत दुःख पाते हैं ।
- दुःख ही संसार का दूसरा नाम है ।
- जीव को संसार में अकेले ही भ्रमण करना पड़ता है ।
- यह जीव अकेला ही जन्मता और अकेला ही मरता है ।

18. संसारोऽनाविरेवायं कथं स्यात् प्रीतये सताम् ? व. च. 6.21
19. सर्वं तु दुःखमेवात्र सुखं तत्रापि कल्पितम् । प. पु. 14.46

अवसर की श्रेष्ठता

20. कालज्ञानं ही सर्वेषां नयानां मूर्धनि स्थितम् । प. पु. 24.100
21. कालविद्धि कुस्ते यथोचितम् । ह. पु. 63.31

अवस्था

22. सर्वसाधारणं नृणामवस्थान्तरवर्त्तनम् ह. पु. 21.34

अशक्य

23. भवेदमृतवल्लीतो विषस्य प्रसवः कथम् ? प. पु. 7.197
24. अवलम्ब्य शिलाकण्ठे दोर्भ्यां तर्तुं न शक्यते । प. पु. 123.75
25. न हि सागररत्नानामुत्पत्तिः सरसो भवेत् । प. पु. 31.155
26. बालुकापीडनाद् बालस्नेहः संजायतेऽयं किम् ? प. पु. 118.79
27. नीरनिर्मयने लब्धिर्नवनीतस्य किं कृता ? प. पु. 118.79

आत्मा जीव

28. जलैः किं शुद्धिरात्मनः ? म. पु. 74.63
29. नात्मलाभात्परं ज्ञानम् । पा. पु. 25.115
30. नात्मलाभात्परं सुखम् । पा. पु. 25.115
31. नात्मलाभात्परं ध्यानं । पा. पु. 25.115
32. नात्मलाभात्परं पदम् । पा. पु. 25.115
33. कुरुष्वं चिस्त्वबन्धुताम् । प. पु. 106.129

—यह अनादि संसार सत्पुरुषों की प्रीति के लिए नहीं हो सकता ।

—इस लोक में सब दुःख ही दुःख है, सुख तो कल्पनामात्र है ।

—समय का ज्ञान सब नयों (दृष्टियों) से श्रेष्ठ है ।

—अबसर को जाननेवाला ही निश्चय से यथायोग्य कार्य करता है ।

—मनुष्यों की अबस्थाओं का परिवर्तित होना सामान्य बात है ।

—अमृत की बेल से विष की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

—कंठ में शिला बांधकर भुजाओं से तैरा नहीं जा सकता ।

—समुद्र के रत्नों की उत्पत्ति सरोवर से नहीं हो सकती ।

—बालू के पेलने से लेशमात्र भी तेल नहीं निकल सकता ।

—पानी के मबने से मक्खन की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

—जल से आत्मा की शुद्धि नहीं होती ।

—आत्मलाभ से कोई बड़ा ज्ञान नहीं है ।

—आत्मलाभ से बड़ा कोई सुख नहीं है ।

—आत्मलाभ से बड़ा कोई ध्यान नहीं है ।

—आत्मलाभ से बड़ा कोई पद नहीं है ।

—अपने चित्स्वरूप के साथ बंधुता करो ।

34. स्वभावविमलोऽनाविसिद्धो नास्तीह कश्चन । म. पु. 42.101
35. याति जीवोऽयमेककः । प. पु. 31.145
36. पक्षी वृक्षमिव त्यक्त्वा देहं जन्तुर्गमिष्यति । प. पु. 31.239
37. भवे चतुर्गंतौ भ्राम्यन् जीवो दुःखैश्चितः सदा । प. पु. 17.175
38. एकाङ्गी जायते प्राणी ह्येको याति यमान्तिकम् । व. च. 11.35
39. विद्यते स प्रदेशो न यत्रोत्पन्ना मृता न च । व. च. 11.29
40. कायचैतन्ययोर्नेक्यं विरोधिगुणयोगतः । म. पु. 5.52
41. विचित्रं क्लृप्तु संसारे प्राणिनां नटचेष्टितम् । प. पु. 85.92

आयु

42. प्रतीक्षते हि तत्कालं मृत्युः कर्मप्रचोदितः । प. पु. 44.100
43. आयुर्चायुचलं । म. पु. 46.192
44. आयुर्जलं गलत्यायु । म. पु. 48.7
45. घटिकाजलधारेव गलत्यायुः स्थितिर्द्रुतम् । म. पु. 17.16
46. प्रतिक्षणं गलत्यायुः । म. पु. 8.54
47. आयुर्नित्यं यमाक्रान्तम् । व. च. 11.5
48. आयुरेव निजत्राणकारणम्, तत्क्षये भवति सर्वथा क्षयः । ह. पु. 63.69
49. आयुःकर्मानुभावेन प्राप्तकालो विपद्यते । प. पु. 52.66

आशा

50. किमाशा नाबलम्बते ? म. पु. 44.305
51. आशा हि महती नृणाम् । म. पु. 43.268
52. आशापाशवशाज्जीवाः मुच्यन्ते धर्मबन्धुना । प. पु. 14.102

- इस संसार में कोई भी जीव स्वभाव से निर्मल और अनादि से सिद्ध नहीं होता ।
- यह जीव अकेला ही जाता है ।
- जैसे पक्षी वृक्ष को छोड़कर चला जाता है वैसे ही यह जीव शरीर को छोड़कर चला जावेगा ।
- जीव चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ सदा दुःखी रहता है ।
- जीव अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरता है ।
- संसार में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहां जीवों ने जन्म और मरण नहीं किये हों ।
- शरीर और चेतन में परस्पर विरोधी गुण होने से दोनों एक नहीं हो सकते ।
- संसार में प्राणियों की चेष्टाएं नट की चेष्टाओं के समान विचित्र होती हैं ।
- कर्म से प्रेरित मृत्यु अपने समय की प्रतीक्षा करती ही है ।
- आयु वायु के समान बंचल है ।
- आयु हिम के समान शीघ्र गलनशील है ।
- आयु की स्थिति घटी-यन्त्र की जलधारा के समान शीघ्रता से कम होती रहती है ।
- आयु प्रतिक्षण नष्ट हो रही है ।
- आयु नित्य ही यम से आक्रान्त है ।
- आयु ही अपनी रक्षा का कारण है, उसका क्षय हो जाने पर सब प्रकार से क्षय हो जाता है ।
- आयुकर्म की समाप्ति पर मृत्यु निश्चित है ।
- आशा सब वस्तुओं की होती है ।
- मनुष्य की आशा बहुत बड़ी होती है ।
- धर्मरूपी बंधु के द्वारा जीव आशा रूपी पाश से मुक्त हो जाते हैं ।

आश्रय

53. आश्रयः कस्य वैशिष्ट्यं विशिष्टो न प्रकल्पते ? म. पु. 58.28
54. मलिनानपि नो घत्ते कः धिताननपायिनः ? म. पु. 6.79
55. स्थीयते दिनमप्येकं प्रीतिस्तत्रापि जायते । प. पु. 91.45
56. आश्रयसामर्थ्यात् पुंसां किं नोपजायते ? प. पु. 47.20

इच्छा

57. सद्भृत्यमित्रसंबन्धाद् भवन्तीप्सितसिद्धयः । म. पु. 68.638
58. निस्सारमोहितं सर्वं संसारे दुःखकारणम् । प. पु. 39.36
59. धिगिच्छामन्तर्वाजिताम् । प. पु. 5.307
60. सर्वो हि वांछति जनो विषयं मनोज्ञम् । म. पु. 29.153
61. ग्राह्लादः कस्य वा न स्याद् ईप्सितार्थसमागमे ? म. पु. 43.283
62. जन्तुरन्तकदन्तस्थो हन्त जीवितमीहते । म. पु. 49.4
63. सोपाया हि जिगीषवः । म. पु. 15.97

उचित

64. न गजस्योचिता घंटा सारमेयस्य शोभते । प. पु. 74.93

उन्नति

65. सून्नतः कस्य नाश्रयः ? म. पु. 14.64
66. को न गच्छति संतोषमुत्तरोत्तरवृद्धितः ? म. पु. 71.398

उपकार

67. प्रणिपातावसानो हि कोपो विपुलचेतसाम् । पा. पु. 20.352

- विशिष्ट का आश्रय सबको विशिष्टता देता है ।
- मलिन होते हुए भी निरुपद्रवी अर्घीनों को सब आश्रय देते हैं ।
- जीव एक दिन के लिए भी जहाँ रहता है उससे उसकी प्रीति हो जाती है ।
- आश्रय के सामर्थ्य से मनुष्यों-को सब कुछ मिलता है ।
- उत्तम सेवकों और मित्रों के सहयोग से इष्टसिद्धियाँ हो जाती हैं ।
- संसार में समस्त इच्छाएं निःसार तथा दुःख का कारण हैं ।
- अन्तरहित इच्छा को धिक्कार है ।
- सभी लोग मनोज्ञ विषय को ही चाहते हैं ।
- अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति पर सबको आनन्द होता है ।
- खेद है कि जीव यम के दांतों के बीच रहकर भी जीवित रहना चाहता है ।
- विजय के इच्छुक मनुष्य उपाय करते ही हैं ।
- हाथी के योग्य घंटा कुत्ते को शोभा नहीं देता अर्थात् वस्तुएं यथास्थान ही सुशोभित होती हैं ।
- अच्छी तरह उन्नत हुआ व्यक्ति सबका आश्रय होता है ।
- अपनी उत्तरोत्तर उन्नति से सब सन्तुष्ट होते हैं ।
- उदारचित्तबालों का कोप विनती (चरण-प्रतिपात) पर्यन्त ही रहता है ।

68. उदारा भवन्ति हि वयापराः । प. पु. 12.131
69. पापिनामुपकारोऽपि सुभुजंगपयायते । म. पु. 46.316
70. अकारणोपकाराणामवश्यंभावि तत्फलम् । म. पु. 75.365
71. कथं ह्यस्या उपकारकरा नराः ? पा. पु. 12.297
72. समाषये हि सर्वोऽयं परिस्पन्दो हितार्थिनाम् । म. पु. 11.71
73. भवेत्स्वार्था परार्थता । म. पु. 59.65
74. परोपकारवृत्तीनां परतृप्तिः स्वतृप्तये । म. पु. 59. 67
75. मुख्यं फलं ननु फलेषु परोपकारः । म. पु. 76.554



- निश्चय ही उदार मनुष्य दयालु होते हैं ।
- पापी पर उपकार करना सांप को दूध पिलाना है ।
- बिना कारण (निःस्वार्थ) किये गये उपकार अवश्य ही फलदायी होते हैं ।
- उपकार करनेवाले मनुष्य मारने योग्य नहीं हो सकते ।
- परोपकारी पुरुषों की सम्पूर्ण क्रियाएं दूसरों की भलाई के लिए ही होती हैं ।
- परोपकार में स्वोपकार निहित है ।
- परोपकारी के लिए दूसरों की सन्तुष्टि ही अपनी सन्तुष्टि है ।
- सब फलों में परोपकार ही मुख्य फल है ।

जैनविद्या

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का रहेगा।
4. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सेमी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
5. अन्य अध्ययन अनुसंधान में रत संस्थानों की गतिविधियों का भी परिचय प्रकाशित किया जा सकेगा।
6. समीक्षार्थ पुस्तकों की तीन-तीन प्रतियाँ आना आवश्यक है।
7. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र व्यवहार के लिए पता—

सम्पादक

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी
श्रीमहावीरजी (जिला सवाई माधोपुर)

राजस्थान 32220

समाधि

संस्थान की घोषित नीति के अनुसार पत्रिका के इस अंक में भी अपभ्रंश भाषा की "समाधि" शीर्षक रचना सानुवाद प्रकाशित की जा रही है।

जैन और जैनेतर दोनों ही दर्शनों में समाधि के महत्त्व को स्वीकार किया गया है किन्तु उसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न रूप में की गई है। "योग-शास्त्र" के कर्ता महर्षि पतंजलि ने "तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" —ध्येयमात्र की प्रतीति और स्वरूप के शून्य की भांति हो जाने को समाधि कहा है अर्थात् वे आत्मा के परमतत्त्व (ईश्वर) में लीन हो जाने को समाधि मानते हैं। जैन किसी ऐसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते जो सृष्टि का कर्ताघर्ता एवं कर्मफलदाता है। उनके अनुसार तो आत्मा स्वयं पुरुषार्थ करके परमात्मा बन सकता है। जैनदर्शन में "अप्पा अप्पम्मि अप्पणो सुरदो" आत्मा का आत्मा द्वारा आत्मा में लीन होना ही सम्यक्चारित्र की पूर्ति माना है। (समणसुत्त : 268) अतः आत्मा ही ध्येय है—"भायव्वो णिय अप्पा" (वही : 288) चारित्र, दर्शन एवं ज्ञानपूर्वक होता है। यह ही मुक्ति का मार्ग है—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (मोक्षशास्त्र 1.1) इसीलिए रचनाकार ने भी "दंसारणाणचरित्रसमिद्धि" दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समृद्धि को समाधि का स्वरूप कहा है।

रचना आध्यात्मिक रस से ओत-प्रोत है। इसके रचनाकार हैं मुनि चारित्रसेन। यह संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग के एक प्राचीन गुटके में संगृहीत है जिसमें लिपिकार का नाम अथवा लिपिकाल लिखा हुआ नहीं है। रचनाकार ने भी रचना में स्वयं का कोई परिचय नहीं दिया है और न रचनास्थान, रचनाकाल आदि का ही कोई उल्लेख किया है। डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच ने अपने "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ" शीर्षक निबन्ध में प्रस्तुत रचना का पंचायती दि. जैन मन्दिर दिल्ली के दो गुटकों—91 तथा 94 में लिपिबद्ध होना बताया है किन्तु उनमें भी इन बातों का कोई उल्लेख हो ऐसा ज्ञात नहीं होता क्योंकि डॉ. शास्त्री का निबन्ध इस संबंध में मौन है।

जैनधर्म का इतिहास : पं. परमानंदशास्त्री, तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : डॉ. नेमीचंद ज्योतिषाचार्य, भट्टारक सम्प्रदाय : जोहरापुरकर, अपभ्रंश साहित्य : डॉ. कोछड़, अपभ्रंश भाषा और साहित्य : डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन (इन्दोर) आदि पुस्तकें एवं ग्रंथ सूची, पांच भाग : साहित्यशोध विभाग श्रीमहावीरजी, नागौर शास्त्रभण्डार की सूची : डॉ. प्रेमचन्द आदि पुस्तकें अथवा ग्रंथ-सूचियां भी इस सम्बन्ध में हमारी कोई सहायता नहीं करती। मुद्रित ग्रंथों की किसी सूची अथवा सूचीपत्र में भी इस रचना का नाम देखने में नहीं आया अतः रचना अप्रकाशित ही ज्ञात होती है।

रचना के अनुवादक हैं संस्थान में कार्यरत सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. भंवरलाल पोल्याका जैनदर्शनाचार्य, सा. शास्त्री। अनुवाद की भाषा सरल और सुबोध है।

आशा है हमारे पूर्वप्रकाशनों की भांति ही इसका भी द्विद्वत्समाज में स्वागत होगा।

(प्रो.) प्रवीणचन्द्र जैन

सम्पादक

समाधि

अथ समाधि लिख्यते

गणहरभासिय जियसंतिसमाधि,
वंसगणगणचरित्रसमिद्धि ।

समाधि जिणदेवहं विट्ठी,
जो करइ सो समाइट्ठी ॥ समाधि ॥1॥

राउरोसुजिणइं जो उवसमि थकइ ।
सो परमप्पा देखण सकइ ॥ समाधि ॥2॥

जो परमप्पा देखण सकइ ।
राउरोसुजिणइं सो उवसमि थकइ ॥ समाधि ॥3॥

जो पुणु भावलडउ अप्पाणउं जोवइं ।
सो मिच्छत्तु महातर खोवइं ॥ समाधि ॥4॥

जो मिच्छत्तु महातर खोवइ ।
सो पुणु भावलडा अप्पाणउ जोवइ ॥ समाधि ॥5॥

तजिय बुहु संसारहं पत्तउ ।
जामण अप्पा अप्पु मुणंतउ ॥ समाधि ॥6॥

अइसउ जाणि जिया अप्पउ भायइ ।
सो यत्तरामरुपउ लहु पावहि ॥ समाधि ॥7॥

अइसउ जाणि या जइ सिण्णउ कीजइ ।
खणि खणि पुणु अप्पा भाइज्जइ ॥ समाधि ॥8॥

अप्पा भायन्तहं जिणवर इम भासइ ।
सासयसुक्खु अणंतउ पयासइ ॥ समाधि ॥9॥

समाधि

अब समाधि लिखी जाती है ।

(सम्यक्) दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र इन तीनों की समृद्धि को गणधरों ने आत्मा को शान्ति देनेवाली समाधि कहा है । जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट इस समाधि का कर्ता ही समदृष्टि होता है ॥1॥

जो रागद्वेष को जीर्ण करता है वह ही उपशम में स्थिर होता है और परमात्मा का दर्शन कर सकता है ॥2॥

जो परमात्मा का दर्शन कर सकता है वह ही राग-द्वेष को जीर्ण करता है, उपशम में स्थिर होता है ॥3॥

फिर जो आत्मा के भावों को जानता है वह मिथ्यात्वरूपी महान् वृक्ष को नष्ट करता है ॥4॥

जो मिथ्यात्वरूपी महान् वृक्ष को नष्ट करता है वह ही फिर आत्मा के भावों को जानता है ॥5॥

दोनों संसार में जन्म लेना छोड़कर आत्मा के द्वारा आत्मा को जानो ॥6॥

ऐसा समझकर यदि जीव आत्मा का ध्यान करता है तो शीघ्र ही अजर-अमर पद पा लेता है ॥7॥

जिस मुनि द्वारा ऐसा जानकर निश्चय किया जाता है और फिर प्रतिक्षण आत्मा का ध्यान किया जाता है ॥8॥

जिनेन्द्र भगवान् ऐसा कहते हैं कि (उसके) आत्मा का ध्यान करते हुए अनन्त शाश्वत सुख प्रकाशित हो जाता है ॥9॥

जइ परजंतउ मणु वारिज्जइ ।

तो अप्पा यहु थिर धारिज्जइ ॥ समाधि ॥10॥

जय अप्पा वहु थरु धारिज्जइ ।

तो परजंतउ मणु वारिज्जइ ॥ समाधि ॥11॥

पंचविद्धं विय छट्टउ मणु वारी ।

अप्पउ भिण्णउ जाणहि णाणी ॥ समाधि ॥12॥

जो अप्पा सुद्धु विपरियाणइं ।

सो इंदिय मणु हेउ वियाणइं ॥ समाधि ॥13॥

जो इंदिय मणु हेउ वियाणइं ।

सो परमप्पा सुद्धु परियाणइं ॥ समाधि ॥14॥

जीवाजीवहं भेउ मुण्णिज्जइ ।

जय तो कम्मकखउ लहु किज्जइ ॥ समाधि ॥15॥

जीव न जाणि तुहु अप्पणउ सरोरं ।

अप्पउ जाणहि णाणगहीर ॥ समाधि ॥16॥

अइसउ जाणि जिया जिउ एककु समिद्धु ।

दंसणणाणचरित्तसमिद्धु ॥ समाधि ॥17॥

अइसउ जाणि जिया वेदथ विभिन्ना ।

पुगल कम्म वि अप्पउ भिण्णा ॥ समाधि ॥18॥

जोवणु धणिय धणु परियणु णासइ ।

जीवहो धंमु सरीसउ होसइं ॥ समाधि ॥19॥

जो जीउविजीवहो गुणु जाणइं ।

सो धंमु वि जिणवरु वर वाणइं । समाधि ॥20॥

धणु सुवणु धणु पिय पुत्त कलत्तु ।

सरसउ कोई न जाइ मरंतु ॥ समाधि ॥21॥

गालिंहि गालुडी पुणु यार्याहि य उर ।

पुव्व णिबद्धउ लद्धइ साकु ॥ समाधि ॥22॥

जो पुणु खम करइ तसु पाउ परासइ ।

सोक्खु सिरन्तरु सो नरु पावेसइ ॥ समाधि ॥23॥

जितनी देर तक मन का वारण किया जाता है उतनी देर तक इस आत्मा द्वारा स्थिरता धारण की जाती है ॥10॥

जितनी देर तक आत्मा द्वारा स्थिरता धारण की जाती है उतनी देर तक मन का वारण किया जाता है ॥11॥

ज्ञानी पाँच प्रकार की इन्द्रियों और छठे मन का वारण कर आत्मा को भिन्न जानता है ॥12॥

जो आत्मा का शुद्ध परिज्ञान कर लेता है वह इन्द्रिय और मन को हेय जानता है ॥13॥

जो इन्द्रिय और मन को हेय जानता है वह शुद्ध परमात्मा का परिज्ञान कर लेता है ॥14॥

जब जीव और अजीव के भेद को जान लेता है तब शीघ्र ही कर्मों का क्षय कर देता है ॥15॥

तू अपने शरीर को जीव मत जान, आत्मा को ज्ञान-गंभीर समझ ॥16॥

हे जीव ! दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की समृद्धि को ही आत्मा की एकमात्र समृद्धि समझ ॥17॥

हे जीव, इस प्रकार भेदज्ञान करके पुद्गल, कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न जान ॥18॥

यौवन, धान्य, धन और परिजन नष्ट हो जावेंगे, जीव का धर्म ही साथी होगा ॥19॥

जो जीव और सजीव के गुणों को जानता है वह जिनवर के धर्म को भी भलीप्रकार समझता है ॥20॥

धान्य, सुवर्ण, धन, पति, पुत्र और स्त्री इनमें से कोई भी मरनेवाले के साथ नहीं जाता ॥21॥

गाल बजाना छोड़कर यह हृदय में निश्चय समझ लो कि पूर्वनिबद्ध (कर्म) ही साथ जाता है ॥22॥

जो क्षमा करता है उसके पाप नष्ट होंगे और वह नर निरन्तर सुख की प्राप्ति कर लेगा ॥23॥

- अइसउ जाणि जिय रिट्ठरु ए चविज्जइ ।
 दुक्खु कलेसु ए केण सहिज्जइ ॥ समाधि ॥24॥
- साधु वेडुलउ सुणु जीव मरुसु ।
 अप्पउ राणसरोवरि रिग्गमलि पेसु ॥ समाधि ॥25॥
- मणवक्काएण जीववय किज्जइ ।
 दुक्खु किलेस जलंजलि विज्जइ ॥ समाधि ॥26॥
- मीठउ बोलिज्जइ निठुरु ए चविज्जइ ।
 ते ए जीव सुह दुक्खु उप्पज्जइ ॥ समाधि ॥27॥
- अइसउ जाणि जिय परत्तति ए किज्जइ ।
 जिणवरु रामिउ हियइ धरिज्जइ ॥ समाधि ॥28॥
- जेतउ णेहु लड़ा तेत्तउ जिय दुक्खु ।
 णेहु चयंतहं लाभइ मोक्खु ॥ समाधि ॥29॥
- पारणी भरिउ सरु विणि विणि छिज्जइ ।
 तिम तिम आउ तुहारी भोजइ ॥ समाधि ॥30॥
- एइन्वियपंचदियपत्तउ ।
 जामरा अप्पा-अप्पु मुणंतउ ॥ समाधि ॥31॥
- अइसउ जाणि जिया लहु अप्पा भायहि ।
 सासय सुक्खु वि यविचलु पार्वहि ॥ समाधि ॥32॥
- सासउ रयणत्तउ जगि रिग्गमलु ।
 जो भावइ सो छिन्नड कलिमलु ॥ समाधि ॥33॥
- बंसणु राणु चरणु जो जाणइ ।
 ते तिण्णि वि अप्प मणि मारणहि ॥ समाधि ॥34॥
- जो अप्पहं सद्धहणु सुणिग्गमलु ।
 सो सदंसण तुहुं भार्वहि अखिवलु ॥ समाधि ॥35॥
- जो अप्पा सुट्ठु विजाणिज्जइ ।
 सो रिच्छय जिय राणु मुणिज्जइ ॥ समाधि ॥36॥
- जो पुणु पुणु अप्पा थिर किज्जइ ।
 सो चारिस्तु मणहं भाविज्जइ ॥ समाधि ॥37॥

ऐसा जानकर जीव को निष्ठुर वचन नहीं बोलना चाहिए, ऐसे जीव द्वारा कोई भी दुःख या क्लेश नहीं सहा जाता ॥24॥

अच्छी तरह समझ लो और सुनो—जीव मरेगा । आत्मा को निर्मल ज्ञानसरोवर में प्रविष्ट कर दो ॥25॥

मन, वचन और काय से जीवदया करनी चाहिए और दुःख तथा क्लेश को जलाञ्जलि देनी चाहिए ॥26॥

जो मीठा बोलता है और निष्ठुर वचन नहीं कहता उससे जीव के सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते ॥27॥

हृदय में ऐसा जानकर पर में रति नहीं करना चाहिए और जिनवरूपी राम को हृदय में धारण करना चाहिए ॥28॥

जब तक राग है तब तक ही जीव दुःखी है । राग छूटने पर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥29॥

जिस प्रकार पानी से भरा हुआ तालाब प्रतिदिन छोड़ता है वैसे ही तेरी आयु भी छोड़ती है ॥30॥

एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों में जन्मप्राप्ति अपने आपही समझो ॥31॥

ऐसा समझ कर जो जीव आत्मा का ध्यान करते हैं वे शीघ्र ही अविचल शाश्वत सुख को पा लेते हैं ॥32॥

इस संसार में शाश्वत रत्नत्रय की जो भावना भाता है उसके पापमूल क्षीण हो जाते हैं ॥33॥

जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को जानते हैं वे इन तीनों को ही आत्मा का रत्न मानते हैं ॥34॥

जो आत्मा का सुनिर्मल श्रद्धान है, वही सम्यग्दर्शन है, तू प्रतिपल उसको भा ॥35॥

जो आत्मा को भलीप्रकार जान लेता है, वह जीव निश्चय ही आत्मज्ञान को पहचान लेता है ॥36॥

जो बार-बार आत्मा को स्थिर करता है वह मन से चारित्र्य की भावना करता है ॥37॥

यद्दु सिवसोकलुह मग्नु मुण्णिज्जइ ।

यद्दु सिवसोकलुहं मग्नु मुण्णिज्जइ ॥ समाधि ॥38॥

अइ अप्पा अप्पडि गुण लम्मा ।

ते संसार महादुह भम्मा ॥ समाधि ॥39॥

करमु न किज्जइ सहजिय छिज्जइ ।

अप्पस्वरुवहं जिउ लावइ जइ ॥ समाधि ॥40॥

सुद्ध फलिह सरिसउ जिउ इक्कु फुरन्तु ।

सकल देउ वुच्चइ अरहन्तु ॥ समाधि ॥41॥

अट्टकम्मरहिअउ जिउ सिवपुरि पत्तु ।

शिक्कलु देउ जिण्णिदि वुत्तु ॥ समाधि ॥42॥

जीवहं देवत्तणु जाणिज्जइ ।

सवणत्तउ सो देउ गुणिज्जइ ॥ समाधि ॥43॥

यह भाण जिणु पुन्वि भावइ ।

जो जिउ भावइ सो सिवसुद्ध पावइ ॥ समाधि ॥44॥

इणि पयार भारण (भावण ?) भाविज्जइ ।

दुक्खसउ कम्मक्खउ किज्जइ ॥ समाधि ॥45॥

खणि खणि आइयइ खमो अरहन्ताणं ।

जिउ मेगे पावहु शिण्णवाणं ॥ समाधि ॥46॥

चारित्तसेणु मुणि समाधि पढंतउ ।

भवियहं कम्मुकलं कुडंतउ ॥ समाधि ॥47॥

मनि सम्माधि सुमरि जय विसु नासइ ।

जिम परमक्खरि पाउ पणासइ ॥ समाधि ॥48॥

सोहणु सो विवसु समाधि मरीजइ ।

जामणभरणहं पाणिउ विउजइ ॥ समाधि ॥49॥

अइसइ सम्माधी जो अणुविणु भावइ ।

सो अणरामरु सिवसुद्ध पावइ ॥

सम्माधी जिणदेवहं विट्ठी ।

जो करई सो सम्माइट्ठी ॥50॥

इति सम्माधी समाप्तः

इसी को शिवसुख में मग्न होना मानना चाहिए, इसी को शिवमुख में मग्न होना मानना चाहिए ॥38॥

आत्मा यदि आत्मगुणों में लीन हो जाता है तो संसार के महान् दुःखों को भग्न कर देता है ॥39॥

जो कर्म नहीं करता और यदि आत्मस्वरूप में जी लबाता है तो उसके (कर्म) सहज ही क्षीण हो जाते हैं ॥40॥

और शुद्ध स्फटिक की तरह एकल आत्मा दीप्त हो जाता है ऐसा सब अरहन्त देवों ने कहा है ॥41॥

‘अष्टकर्मरहित जीव शिवपुर प्राप्त करता है’ ऐसा कालुष्यरहित जिनेन्द्रदेवों ने कहा है ॥42॥

जो जीव के देवत्व को जानता है वह आत्मतत्त्व को ही देव मानता है ॥43॥

यह जानकर जो जीव पहले जिन को भावपूर्वक भाता है वह शिवसुख पाता है ॥44॥

इस प्रकार जो भावना भाता है वह दुःखों का क्षय और कर्मों का क्षय करता है ॥45॥

हे जीव, प्रतिक्षण ‘णमो अरहंताणं’ का ध्यान करो और शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करो ॥46॥

चारित्रसेन मुनि कहते हैं कि हे भव्यजीवो ! समाधि का पाठ करो और कर्मकलंक का नाश करो ॥47॥

हे मन ! समाधि का स्मरण करो जो विष को नाश करता है और जिससे परमशत्रु पाप प्रणष्ट होते हैं ॥48॥

बहु दिन जिस दिन समाधिमरण होता है और जन्म-मरण को पानी दिया जाता है अर्थात् नष्ट किया जाता है, सुहाबना होता है ॥49॥

इस प्रकार समाधि का जो प्रतिदिन ध्यान करता है वह अजर अमर शिवसुख को पाता है । जिनेन्द्र देवों द्वारा उपदिष्ट समाधि को जो करता है वही समदृष्टि है ॥50॥

॥ इस प्रकार समाधि पूर्ण हुई ॥

साहित्य-समीक्षा

1. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-संदर्शिका**—मूल प्रणेता-श्रीमद्-भगवदमृतचन्द्राचार्य । अनुवादक एवं सम्पादक-श्री नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ, शास्त्री, इन्दौर । प्रकाशक, संयोजक एवं भेटकर्ता-कमलकुमार, (डॉ.) कैलाशचन्द्र, रमेशचन्द्र सेठी, राजसदन, 199 जवाहर मार्ग इन्दौर । आकार-18"×22"/8" । पृष्ठ संख्या-144 । न्यौछावर-धर्मप्रचारार्थ भेंट ।

वर्तमान श्रावकाचारों में प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन एवं शैली की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है । इसमें श्रावक के आचार का निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है । समीक्ष्य पुस्तक इसी का सुन्दर, सरल और सरस हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद है जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ स्वाध्याय प्रेमियों के लिए ग्रन्थ के हार्द को समझने में बड़ा सहायक हो सकता है । छपाई-सफाई भी सुन्दर एवं कलापूर्ण है ।

2. **मूल जैन संस्कृति : अपरिग्रह**—लेखक एवं प्रकाशक-श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली । प्राप्ति-स्थान-वीर सेवा मन्दिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-2 । आकार—18"×22"/8" । पृष्ठ संख्या-32 । मूल्य-दो रुपये मात्र ।

अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह ये तीनों जैन संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं । बिना इनको हृदयंगम किये न तो जैन संस्कृति को समझा जा सकता है और न जैनधर्म को जीवन में उतारा ही जा सकता है । लेखक ने जैन संस्कृति को अनादिकालीन बताते हुए वीतरागता का आत्मकल्याण के लिए साधन और साध्य दोनों रूपों से विवेचन किया है । यह वीतरागता अपरिग्रह का पालन किये बिना अप्राप्य है । इसमें कथ्य की दृष्टि से नयापन है । पुस्तक पठनीय, मननीय तथा संग्रहणीय है ।

3. **जैनदर्शन में उपासना एवं स्याद्वाद-लेखक**—श्री नाथूराम डोंगरीय जैन न्यायतीर्थ, शास्त्री, इन्दौर । प्रकाशक-जैन साहित्य प्रकाशन, 5/1 तम्बोली बाखल, इन्दौर-2 । आकार-20"×30"/16" । पृष्ठ संख्या-64 । मूल्य-जिनशासन प्रभावनाथ सप्रेम भेंट ।

प्रस्तुत पुस्तिका में दो निबन्ध समाविष्ट हैं—1. जैनदर्शन में उपासना तथा 2. जैनदर्शन में स्याद्वाद । प्रथम निबन्ध में अर्हत् भक्ति का महत्त्व व उसके स्वरूप पर विचार करते हुए भक्ति की आवश्यकता पर अत्यधिक बल दिया गया है साथ ही भक्ति में आई विकृतियों को अस्वीकार किया गया है । द्वितीय निबन्ध में स्याद्वाद के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए साधु-सन्तों, समाज के नेताओं, विद्वानों एवं श्रीमानों से अपेक्षा की गई है कि वे स्याद्वाद के स्वरूप को समझकर आपसी मतभेद भुलाकर ऐक्य की ओर अग्रसर होंगे ।

जैनविद्या के पुष्पदन्त विशेषांक विद्वानों की दृष्टि में

1. डॉ. हीरालाल माहेश्वरी एम. ए., एल. एल. बी., डी. फिल., डी. लिट., असो. प्रो. हिन्दी विभाग, राजस्थान वि. वि. जयपुर—“आपने ये अंक निकाल कर साहित्य जगत् का उपकार किया है। स्वयंभू और पुष्पदन्त के बिना अपभ्रंश साहित्य तो अपूर्ण है ही, हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन भी बिना इनके अध्ययन के सम्यक् रूपेण लिखा जाना कठिन है।”
2. डॉ. कल्लाशचन्द्र भाटिया, प्रोफेसर हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषायें, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, मसूरी—“बहुत ही शोधपूर्ण साथ ही उपयोगी सामग्री प्रस्तुत की गई है। पुष्पदन्त साहित्य का अध्ययन करनेवालों के लिए यह परम उपयोगी सिद्ध होगा। अब तो एम. ए. (अपभ्रंश) में पुष्पदन्त का साहित्य भी पढ़ाया जाता है। कृतियों का मूल्यांकन उच्चस्तरीय तथा मौलिकता युक्त है। “महानन्दि” कृत “आणंदा” देकर आपने बहुत उपकार किया है।”
3. मुनिश्री नगराजजी, डी. लिट.—“साज-सज्जा व सामग्री के विहंगावलोकन से ही एक मानसिक तृप्ति का आभास हुआ। प्रस्तुत पत्रिका तो सचमुच ही जैन समाज की विरल पत्रिकाओं में एक लगी। यह कह पाना भी कठिन है कि कौनसा लेख प्रथम कोटि का है और कौनसा द्वितीय कोटि का है। प्रत्येक लेख में महाकवि पुष्पदन्त व अपभ्रंश के विषय में कुछ न कुछ नवीन जानने को मिला।
जैनविद्या के उत्तरोत्तर विकास की मंगलकामना के साथ।”
4. डॉ. रामस्वरूप आर्य, एम. ए., पीएच. डी., रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर—“विशेषांक में महाकवि पुष्पदन्त तथा उसके कृतित्व के सम्बन्ध में दुर्लभ और खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। शोधपूर्ण पत्रिकाएं अब विरल होती जा रही हैं। “जैनविद्या” के माध्यम से आप इस ज्योति को प्रज्वलित कर रहे हैं, यह प्रसन्नता की बात है।”
5. चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी, श्री जैन मठ श्रवणबेलगोला—We have gone through the magazine. It has come out very well. Subjects discussed in the articles are research oriented. Your efforts are really appreciable.

6. डॉ. लालचन्द जैन, एम. ए., पीएच. डी., प्रवक्ता प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली—
“इस प्रकार की शोध-पत्रिका की जैन जगत् में बहुत आवश्यकता थी। इन विशेषांकों में प्रकाशित सामग्री अनुसंधानपूर्ण, सरल और रोचक शैली में निबद्ध है। “जैनविद्या” के द्वारा न केवल अपभ्रंश सम्बन्धी दुर्लभ साहित्य की सेवा हो सकेगी बल्कि समस्त अपभ्रंश वाङ्मय का आलोचनात्मक रूप विद्वानों तक सहज ही पहुँच जायगा। अपभ्रंश के क्षेत्र में शोधप्रज्ञों को शोध करने में “जैनविद्या” का एक महत्त्वपूर्ण अवदान होगा।”

7. डॉ. योगेन्द्रनाथ शर्मा “अरुण”, एम. ए., पीएच. डी., साहित्यरत्न, रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बी.एस. एम. स्नातकोत्तर कालेज, इडकी (उ.प्र.)—
“पुष्पदन्त विशेषांक बेजोड़ और महुनीय है। जैनविद्या संस्थान का यह सारस्वतयज्ञ निःसन्देह सतुल्य एवं श्लाघ्य है।”

8. श्री यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली—“जैनविद्या पत्रिका निःसन्देह एक उपयोगी प्रकाशन है। उसके सारगर्भित लेख पाठकों को ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, वे पाठकों के दृष्टिकोणों को व्यापक बनाते हैं और गम्भीर साहित्य का गहराई से अध्ययन करने की प्रेरणा देते हैं।

हिन्दी में अपने ढंग की यह पहली पत्रिका है। उसके पीछे आपका श्रम और आपकी सूझबूझ स्पष्ट दिखाई देती है।”

9. पं. अमृतलाल जैन, जैनदर्शन-साहित्याचार्य, ब्राह्मी विद्यापीठ, लाडनू—“पत्रिका का स्तर बहुत ऊँचा है। ऐसे स्तर की पत्रिका के सम्पादन में प्रतिभा के साथ भ्रूरि परिश्रम भी अपेक्षित होता है।

यह शोध पत्रिका अपने ढंग की एक है। इसका स्तर सभी दृष्टियों से उन्नत है। जर्मन विद्वानों एवं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा ध्यान दिलाये जाने पर भी अपभ्रंश साहित्य अभी तक उपेक्षित सा ही बना रहा। जैनविद्या ने इस ओर विशेष ध्यान दिया जो स्तुत्य है।

सम्पादन, कागज, छपाई, सफाई, गेट अप तथा प्रूफ संशोधन आदि सभी उत्तम हैं।”

10. डॉ. छोटेलाल शर्मा, बनस्थली विद्यापीठ—“पुष्पदन्त विशेषांक उच्चकोटि का प्रयत्न है। इससे पुष्पदन्त की विशिष्टता और गरिमा ही उद्घाटित नहीं हुई है, मानव मात्र की सम्भावना की ऊँचाई भी प्रकट हुई है। आज के इस विश्रुंखलित-स्खलित समाज में पुष्पदन्त की रचनाओं की विशेषताएं साधनात्मक मार्ग की निर्देशिका हैं। मैं इस ओर ऐसे प्रयत्न की हृदय से अनुशंसा करता हूँ।”

11. पं. दयाचन्द्र साहित्याचार्य, प्राचार्य श्री गरेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर—“भारतीय साहित्यमयसागर का एक महत्त्वपूर्ण अंग, राजस्थानीय साहित्य उपसागर का पुरुषार्थ से आलोडन कर जो जैनविद्यामृत को आपने उपलब्ध किया है और अन्य ज्ञानामृतपिपासाओं को उपलब्ध कराया है यथार्थ में स्वादिष्ट अनुपम आत्मानन्दप्रद और प्रबोधकारी अमृत है, उससे ज्ञान पिपासुओं की क्षुधा, तृषा शांत हो सकती है।”
12. पं. धर्मचन्द्र शास्त्री, व्यवस्थापक, श्री ऐलक पन्नालाल वि. जैन सरस्वती भवन, उज्जैन—विशेषांकों में अपभ्रंश भाषा के विशेषज्ञ विद्वानों की पठनीय रचनाएँ हैं। इनसे शोधकर्ता विद्वानों को सहज ही प्रभूत सामग्री हाथ लग जाती है। पत्रिका ने जैनसाहित्य की शोध प्रक्रिया को आगे बढ़ाने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया है वह सर्वथा श्लाघ्य और अभिनन्दनीय है।”
13. डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर—“सभी लेख अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित हैं। इनके माध्यम से कवि का साहित्यिक मूल्यांकन सुगठित और परिष्कृत शैली में हुआ है। कवि के वाग्वेदगध्य, अर्थचातुर्य और प्रज्ञा को जानने में सहायक होकर यह विशेषांक साहित्यरसिकों को निश्चित रूप से आकर्षित करेगा।”
14. पं. सत्यधरकुमार सेठी, उज्जैन—“यह विशेषांक नहीं मैं तो यह मानता हूँ कि महाकवि पुष्पदन्त के जीवन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित एक महान शोधग्रन्थ है।
प्रस्तुत अंक में कितने ही ऐसे लेख हैं जिनके पढ़ने से मानव को नया चिन्तन मिलता है।
क्षेत्र के प्रबन्धकों ने जैनविद्या पत्रिका को जन्म देकर ऐसा कदम उठाया है जो साहित्य-जगत् में चिरस्मरणीय रहेगा।”
15. डॉ. गंगाराम गर्ग, प्रवक्ता महारानी श्री जया कालेज, भरतपुर—“इस विशेषांक का प्रकाशन भी अत्युत्तम है। इसमें कवि के व्यक्तित्व और काव्यकला संबंधी वैविध्यपूर्ण जानकारी प्रचुर मात्रा में जुटाई गई है।”
16. डॉ. आदित्य प्रचण्डिया ‘दीप्ति’ एम.ए., पीएच.डी., अलीगढ़—“आद्यन्त आकर्षक और महनीय है। एक ही कवि पर विविध विषयालेख दो खण्डों में प्रकाशित करने का श्रमसाध्य संकल्प एवं महाकवि पुष्पदन्त के सर्वांगीण स्वरूप को प्रस्तुत करने का स्वयं में अभिनव संकेतक है।”
17. श्री बिरधीलाल सेठी, जयपुर—“विभिन्न पहलुओं पर गवेषणात्मक लेख हैं। मैं समझता हूँ यह इस किस्म का प्रथम प्रयास है। विशेषांक विद्वानों द्वारा संग्रहणीय है।”

18. डॉ. रामनारायण चतुर्वेदी, निदेशक संस्कृतशिक्षा, राजस्थान—जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी का यह अर्द्ध-वार्षिक प्रकाशन अपने शोधपूर्ण सामग्री के कारण भारत की शीर्षस्थ शोध-पत्रिकाओं में परिगणनीय है। पुष्पदन्त विशेषांक खण्ड-2 के सभी लेख स्तरीय हैं। महाकवि पुष्पदन्त अपभ्रंश भाषा के शीर्षस्थ कवि हैं। न केवल अपभ्रंश अपितु हिन्दी साहित्य एवं भाषा के इतिहास में पुष्पदन्त नींव के प्रमुख प्रस्तर हैं। जिनके विषय में पं. राहुल सांकृत्यायन ने अपनी हिन्दी काव्यधारा में उचित ही लिखा है।

पुष्पदन्त के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर इतनी प्रचुर, महत्त्व एवं वैविध्यपूर्ण सामग्री प्रकाशित कर आपने साहित्य जगत् का महान् उपकार किया है।

आशा है साहित्य जगत् में इस कृति का यथोचित आदर एवं मूल्यांकन होगा।”

19. श्री रामचन्द्र पुरोहित, पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर—
“जैनविद्या पत्रिका के पुष्पदन्त विशेषांक के दोनों खण्ड देखकर प्रसन्नता हुई। संस्थान इस प्रकार के कार्य कर न केवल जैन साहित्य को ही प्रकाशित कर रही है अपितु हिन्दी के आदि सृष्टाग्रों एवं उनके कर्तृत्व के विभिन्न पक्षों को भी उजागर कर रही है। इस प्रयत्न में जो विद्वान् सक्रिय योग दे रहे हैं वे सब धन्यवादाहर्ह हैं। इस प्रयत्न से हिन्दी के आदि साहित्य के जिज्ञासुओं की तृप्ति होगी। अध्ययन-मनन की दृष्टि से सामग्री उपयोगी है। मुद्रण-प्रकाशन आदि सभी दृष्टियों से पत्रिका के दोनों अंक आकर्षक अवलोकनीय हैं।”

20. श्री कलानाथ शास्त्री, साहित्याचार्य, निदेशक-भाषाविभाग, राजस्थान शासन, जयपुर—
“जैनविद्या’ के अंकों को प्रारंभ से ही देखता रहा हूँ। पत्रिका की यह सराहनीय योजना है कि जैन साहित्य के उन कालजयी रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर एक अंक में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया जाय जिन्होंने अपभ्रंश भाषा में वरेण्य ग्रंथ लिखे हैं और जिनके लेखन के बारे में सारे देश की जिज्ञासा रहती है।

“जैनविद्या” का जैनसाहित्य को अवदान चिरस्मरणीय ही नहीं, अजर और अमर रहेगा इस पर इन तीन अंकों को देखकर ही आश्वस्त हुआ जा सकता है। मेरी बधाई स्वीकार करें।”

21. डॉ. डामोदर शास्त्री, व्याकरणाचार्य, सर्वदर्शनाचार्य, जैनदर्शनाचार्य, एम.ए. (त्रय), विद्यावारिधि, अध्यक्ष एवं रीडर जैनदर्शन विभाग, लालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली—“योग्य सम्पादन व कुशल निर्देशन में प्रकाशित यह शोधपत्रिका वस्तुतः संग्रहणीय व ज्ञानवर्द्धक बन पड़ी है। इस पत्रिका ने थोड़े समय में ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। पुष्पदन्त कवि के काव्य को केन्द्रित कर शोध-विद्या के सभी पक्षों को दृष्टि में रखकर शोध सामग्री प्रस्तुत की गई है।”

22. डॉ. गोविन्दजी. डी. फिल, रीडर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, मेरठ विश्वविद्यालय मेरठ—“पुष्पदन्त कवि पर प्रामाणिक एवं पठनीय सामग्री देकर आपने श्लाघनीय कार्य किया है। कवि के अनेक अछूते सन्दर्भों को प्रकाश में ले आकर आपने उसके व्यक्तित्व को उजागर कर दिया। प्रत्येक पुस्तकालय के लिए अंक संग्रहणीय है।”
23. पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी—“संस्थान द्वारा यह अनुपम और अमूल्य सेवा है जो ऐतिहासिक पक्ष को प्रकाश में लाने के कारण बहुमूल्यवान् है। संस्थान की, संस्था संचालकों की तथा विद्वानों की सेवा के लिए समाज चिर-ऋणी रहेगा।”
24. डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, एम. ए. (पांच), एल.एल.बी., पी.एच.डी., साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा—“जैनविद्या’ जैनशोध सम्बन्धी अग्रणी पत्रिका के रूप में उभर कर आ रही है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि यह एक शोध प्रबन्ध है जिसमें पुष्पदन्त के व्यक्तित्व एवं कृतिश्च पर प्रामाणिक विद्वानों ने अपने शोधपरक निबन्धों द्वारा विभिन्न पहलुओं का उद्घाटन किया है। अपभ्रंश साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान में इस पत्रिका का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह पत्रिका शोध संस्थानों एवं महाविद्यालयों के पुस्तकालयों के लिए तो अनिवार्य है ही साथ ही अपभ्रंश के अन्वकारपूर्ण प्रकोष्ठ को सूर्य के प्रकाश से जगमगानेवाली है।”
25. श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली—“जैनविद्या” पत्रिका ने अपना उच्चस्तर स्थापित किया है। वह शोधार्थियों के लिए तो लाभप्रद होगा ही जैन वाङ्मय के सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में भी उपयोगी सिद्ध होगा।”
26. पं. नाथूराम डोंगरीय, जैन साहित्य प्रकाशन, इन्दौर—“वास्तव में जैनविद्या संस्थान जो अपभ्रंश साहित्य में विद्यमान मानव समाज के हित में बहुमूल्य सामग्री का अन्वेषण, सम्पादन और प्रकाशन कर रही है वह सचमुच सराहनीय और अभिनन्दनीय है। भाषा भावों को अभिव्यक्त करने का एक माध्यम है चाहे वह अपभ्रंश ही क्यों न हो। इस दृष्टि से समाजहित में कवियों, विद्वानों व आचार्यों द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित साहित्य का भी कम मूल्य नहीं है जैसा कि पुष्पदन्त विशेषांक के लेखों से प्रकट है।”
27. डॉ. प्रेमचन्द विजयवर्गीय, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग, वनस्थली विद्यापीठ राज.—पुष्पदन्त पर दो खण्डों में निकाले गये ये विशेषांक उच्चस्तरीय सामग्री से युक्त हैं। ये पठनीय तो हैं ही, स्थायी महत्त्व के होने के कारण संग्रहणीय भी हैं। ये अंक उच्चकोटि की सम्पादनकला के परिचायक हैं। जिस पत्रिका का आरम्भ ही इतना उच्चस्तरीय और सुव्यवस्थित है उसके उत्तरोत्तर विकास की सहज ही आशा की जा सकती है।”

28. डॉ. गंगाधर भट्ट, रीडर संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर—
“महाकवि पुष्पदन्त की रचनाओं से सम्बन्धित सामग्री इस ग्रंथ में प्रकाशित कर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न किया गया है। विशेषतः जसहरचरिउ व णायकुमारचरिउ जैसी अनुपम कृतियों का विभिन्न दृष्टियों से अध्ययन कर इस ग्रंथ के गौरव को और भी अधिक उत्कर्ष दिया गया है।
संस्थान ने इस पावन कृत्य को करके प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति के विकास में अपूर्व योगदान किया है जिससे ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ एक अपूर्व चेतना भी प्रदान की है।”
29. डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया, एम.ए., पीएच. डी., डी. लिट्., विद्यावारिधि साहित्यालंकार, निदेशक, जैन शोध अकादमी, अलीगढ़—“जैनविद्या पहली और अकेली षट्मासिकी है जिसके द्वारा अपभ्रंश की सम्पदा का आकलन, मूल्यांकन, अध्ययन अभिव्यक्त होता है। यह वस्तुतः बहुत बड़ी बात है।
जैनविद्या के सातत्य प्रकाशन से विद्या-जगत् में नए मान-प्रतिमान स्थिर होंगे। भारतीय साहित्य और संस्कृति का समुन्नत स्वरूप मनीषियों के समक्ष होगा। इस बहुनीय प्रकाशन, सम्पादन के लिए कृपया मेरी बहुतशः बधाइयां स्वीकार कीजिये।”
30. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ—शोधपत्रिका “जैनविद्या” के जो तीन अंक प्रकाशित हुए हैं अत्युत्तम हैं, स्थायी महत्त्व के हैं। शोधछात्रों एवं विशेष अध्येताओं के लिए बड़े उपयोगी होंगे। सभी लेख उच्चस्तरीय हैं, बधाई स्वीकार करें।”
31. पं. बालचन्द्र शास्त्री, हैदराबाद—“पत्रिका में सब ही लेख उत्कृष्ट व पठनीय हैं। इसमें णायकुमारचरिउ व जसहरचरिउ के विषयों पर सर्वांगीण प्रकाश डाला गया है। पत्रिका की साज-सज्जा भी सुरुचिपूर्ण है।
अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए जो आपकी इस पत्रिका द्वारा योजना है वह स्तुत्य है।”
32. श्री उदयचन्द्र जैन, सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी—“वास्तव में दो अंकों में पुष्पदन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व के सभी पहलुओं की अच्छी जानकारी मिल जाती है। इतनी उत्तम सामग्री सुलभ कराने के लिए पत्रिका के सम्पादक, प्रकाशक तथा लेखक सभी हार्दिक बधाई के पात्र हैं।”
33. पं. बंशीधर शास्त्री, बीना—“जैनविद्या संस्थान की चालू योजना सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, प्रयास स्तुत्य है।”
34. म. विनयसागर, संयुक्त सचिव राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर—“दोनों अंकों में संकलित सामग्री श्रेष्ठ एवं सुरुचिपूर्ण है। महाकवि के कला और भावपक्ष को उजागर/सुस्पष्ट करने में सुविज्ञों ने विविध आयातों/दृष्टिकोशों के माध्यम से जो सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है, वह शोध छात्रों के लिए दीपस्तम्भ के समान सिद्ध होगा, निःसंदेह है।

जैन साहित्य की उच्च परम्परा को च्योतित करनेवाले ऐसे गवेषणात्मक एवं गौरवपूर्ण विशेषांकों के लिए हार्दिक बधाई स्वीकार करें।”

35. अमरभारती, राजगृह, मई 1985, पृष्ठ 39—“17 विद्वानों के शोधपूर्ण लेखों में महाकवि पुष्पदंत के उदात्तचिन्तन, व्यक्तित्व, विद्वत्ता एवं काव्यकला को उजागर किया गया है। अपभ्रंश भाषा के साहित्य को प्रकाश में लाने का प्रस्तुत कार्य महत्त्वपूर्ण एवं स्तुत्य है और जैन वाङ्मय की महान् सेवा है।
महाकवि पुष्पदन्त पर प्रकाशित प्रस्तुत ग्रंथ का यह प्रथमखण्ड ज्ञानकोष है।
36. वर्षों प्रवचन, वर्ष 3, अंक 5-6, मई-जून 1985, पृष्ठ 29—“पुष्पदन्त इस महान् देश की एक असामान्य विभूति हैं। उनके शोधपूर्ण साहित्य ने जिज्ञासुओं के सामने अनेक गुत्थियां सुलझा कर रखी हैं। जैसा कि इस अंक में विद्वान् लेखकों ने विभिन्न तात्त्विक धाराओं के विवेचन से सिद्ध किया है। विद्वानों ने ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक उभय शैलियों का उपयोग कर इस अंक को ग्रंथ का रूप प्रदान किया है। जिससे पाठकों को इस महाकवि की रचनाओं का पूर्ण परिचय मिल जायेगा। विषयों का रोचक तथा रुचिकर ढंग से वर्णन किया गया है। प्रत्येक दर्शनप्रेमी पाठक के पुस्तकालय में रहने योग्य ग्रंथों में से यह एक है।”
37. जैन गजट, लखनऊ, वर्ष 90, अंक 33, मंगलवार, दि. 18.6.85, पृष्ठ 22—सभी लेख पठनीय हैं। जैनविद्या संस्थान अपभ्रंश भाषा के विशाल मुसमृद् साहित्य को, जो प्रायः सारे का सारा ही जैन मनीषियों की देन है प्रकाश में लाने का स्तुत्य कार्य कर रहा है।..... कागज, छपाई उच्चकोटि की है।”
38. बीरबाणी, जयपुर, वर्ष 37 अंक 20, दि. 18 जौलाई 1985, पृष्ठ 408—“विद्वान् लेखकों ने कवि पुष्पदन्त के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। यह अंक एक सन्दर्भ ग्रंथ के रूप में साहित्य जगत् में समाहित होगा इसमें सन्देह नहीं।”
39. स्याद्वादज्ञानगंगा, सोनागिर, वर्ष 6 अंक 5-6, मई-जून 85—“जैनदर्शन की लुप्त/अनुपलब्ध सामग्री को प्रस्तुत करने में यह उन्नत प्रयास है। सम्पूर्ण दृष्टि से आद्योपान्त सही अर्थ में एक दुर्लभ शोध सामग्री को प्रस्तुत करने में पत्रिका सफल है।”
40. वीतरागवाणी, टीकमगढ, वर्ष 5 अंक 7, जुलाई 1985, पृष्ठ 25—“विद्वान् सम्पादक मण्डल के निर्देशन में यथार्थतः जैनविद्या संस्थान का यह कार्य स्तुत्य तो है ही शोधार्थियों के लिए बहुत बड़ा सम्बल है। महाकवि के मूल्यवान् कृतित्व को उनकी गुणवत्ता के साथ विशेषांक में प्रस्तुत किया गया है जो महाकवि पुष्पदंत पर एक सन्दर्भ ग्रंथ व ज्ञानकोष का कार्य करता है।”

इस अंक के सहयोगी रचनाकार

1. डॉ. प्रावित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति'—जन्म 1953। एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्. उपाधि हेतु शोधरत। कवि, लेखक एवं समीक्षक। अनेक कविताएं, लेख एवं पुस्तकें प्रकाशित। रिसर्च एसोसिएट, हिन्दी विभाग, क. मु. भाषाविज्ञान एवं हिन्दी विद्यापीठ, आगरा। इस अंक के निबन्ध 'भविसयत्कहा का साहित्यिक महत्त्व' के लेखक। सम्पर्क सूत्र—मंगलकलश, 394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़—202001 (उ० प्र०)।
2. डॉ. कपूरचन्द जैन—जन्म 1954। एम. ए., पीएच. डी., साहित्य-सिद्धान्त-शास्त्री। अनेक शोधनिबन्ध व पुस्तकों के लेखक। कवि, समीक्षक व सामाजिक कार्यकर्ता। अध्यक्ष, संस्कृतविभाग, श्री कुन्दकुन्द जैन महाविद्यालय, खतौली। इस अंक के निबन्ध 'भविष्यदत्कथा विषयक साहित्य—एक अनुशीलन' के लेखक। सम्पर्क सूत्र—130, बड़ा बाजार, खतौली-251201, उ. प्र.।
3. डॉ. गंगाराम गर्ग—एम. ए., पीएच. डी., हिन्दी जैन भक्तिकाव्य पर डी. लिट्. की उपाधि के लिए शोधरत। अनेक शोधपत्र, शोधनिबन्ध तथा पुस्तकों के लेखक। अपभ्रंश और हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन एवं शोध में रुचि। प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, महारानी श्रीजया कालेज, भरतपुर। इस अंक के निबन्ध 'भविसयत्कहा में नीतितत्त्व' के लेखक। सम्पर्कसूत्र—110 ए, रणजीतनगर, भरतपुर, राज.।
4. डॉ. गजानन नरसिंह साठे—जन्म 1922। एम. ए. (हिन्दी, अंग्रेजी व मराठी), बी. टी., साहित्यरत्न, मराठी साहित्य विशारद, पीएच. डी. (अपभ्रंश महाकवि स्वयंभू पर)। अनेक शोधलेखों, पुस्तकों व काव्यों के लेखक, अनुवादक व सम्पादक। राष्ट्रभाषा प्रचार हेतु विशेषरूप से संलग्न। हिन्दी विभागाध्यक्ष, रा. आ. पोद्दार कॉलेज ऑफ कॉमर्स। इस अंक के निबन्ध 'भविसयत्कहा का जीवन में प्रतिबिम्ब' के लेखक। सम्पर्क सूत्र—1472, सदाशिव पेठ, परांजपे सदन, पुरी-411030, महाराष्ट्र।

5. डॉ. गदाधर सिंह—एम. ए., पीएच. डी. । व्याख्याता, हिन्दी विभाग, ह. दा. जैन कॉलेज, आरा । इस ग्रंथ के निबन्ध 'भविसयत्तकहा का कथारूप' के लेखक । सम्पर्कसूत्र—हिन्दी विभाग, ह. दा. जैन कॉलेज, आरा, बिहार ।
6. डॉ. छोटेलाल शर्मा—जन्म 1927 । एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट् । अनेक शोधलेखों व पुस्तकों के लेखक, सम्पादक । सौन्दर्यशास्त्र एवं भाषाशास्त्र के विशेषज्ञ । प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, वनस्थली विश्वविद्यालय । इस ग्रंथ के निबन्ध 'भविसयत्तकहा का भाव-बोध' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—12, अरविन्द निवास, वनस्थली विश्वविद्यालय, वनस्थली, जि टोंक, राजस्थान ।
7. डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल—जन्म 1932 । एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं ग्रंथशास्त्र), एल. एल. बी., पीएच. डी. (हिन्दी), साहित्यरत्न, साहित्यालंकार । अनेक स्मारिकाओं व पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक, विभिन्न विषयों की 400 से अधिक पुस्तकों के लेखक । अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा । इस ग्रंथ के निबन्ध 'महाकवि धनपाल-व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—6/240, बेलनगंज आगरा—4।
8. श्री नेमीचन्द्र पटोरिया—एम. ए., एल. एल. बी., साहित्यरत्न । अनेक बोध-कथाओं व पुस्तकों के लेखक—टीकाकार । अनेक पत्रों के भूतपूर्व सम्पादक । मानद शोधसहायक, जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी । इस ग्रंथ के निबन्ध "मैंट—भविसयत्तकहा के कवि 'धनपाल से' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, 322220, राज. ।
9. श्री भंवरलाल पोल्याका—जन्म 1918 । साहित्यशास्त्री, जैनदर्शनसचार्थ । लेखक—समालोचक । अनेक पुस्तकों, स्मारिकाओं व पत्रों के सम्पादक । पाण्डुलिपि सर्वेक्षक, जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी । इस ग्रंथ के निबन्ध 1. "संस्थान में भविसयत्तकहा की पाण्डुलिपियों की प्रशस्तियाँ" के लेखक तथा 2. अपभ्रंश रचना 'समाधि' के अनुवादक । सम्पर्क सूत्र—566, जोशी भवन के सामने, मण्णहारों का रास्ता, जयपुर—302003 ।
10. डॉ. योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण'—जन्म-1941 । एम. ए., पीएच. डी. साहित्यरत्न । अनेक शोधनिबन्धों व पुस्तकों के लेखक । महाकवि स्वयंभू द्वारा प्रणीत पउमचरिउ में समाज, संस्कृति एवं दर्शन की अभिव्यंजना विषय पर शोधरत । रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बी. एस. एम. कॉलेज, रुड़की । इस ग्रंथ के निबन्ध 'महाकवि धनपाल की काव्य प्रतिभा' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—176, रेल्वे रोड रुड़की, उ. प्र. ।

11. डॉ. रामगोपाल शर्मा 'बिनेश'—जन्म 1929 । एम. ए., पीएच. डी., डी. लट्. । 120 पुस्तकों के रचयिता, सात रचनाएं पुरस्कृत । साहित्यिक पत्रिकाओं के सम्पादक एवं साहित्य-सेवारत । आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर । इस ग्रंथ के निबन्ध "भविसयत्तकहा में युग और समाज के सन्दर्भ" के लेखक । सम्पर्क सूत्र—45/84 सुन्दरवास (नार्थ) उदयपुर—313001, राजस्थान ।
12. श्री श्रीयांशु सिंघई—जन्म 1958 । आचार्य (जैनदर्शन), शोधस्नातक । कवि एवं लेखक । प्राध्यापक, भाषाविज्ञान, श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर । इस ग्रंथ के निबन्ध 'भविसयत्तकहा का धार्मिक परिवेश' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, मण्णहारों का रास्ता, जयपुर—302003 ।
13. डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव—जन्म 1927 । एम. ए. (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत, हिन्दी), आचार्य (पालि, जैनदर्शन, साहित्य, पुराण एवं आयुर्वेद), व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार । अनेक शोधप्रबन्धों व पुस्तकों की रचना एवं सम्पादन । सेवानिवृत्त शोधउपनिदेशक एवं सम्पादक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् एवं परिषद्-पत्रिका । इस ग्रंथ के निबन्ध 'अपभ्रंश का शिखर महाकाव्य-भविसयत्तकहा' के लेखक । सम्पर्क सूत्र—पी. एन. सिन्हा कॉलोनी, भिखना पहाड़ी, पटना—800006, बिहार ।



जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) की प्र० कारिणी समिति के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए रु. 5,001/- (पाँच हजार एक) का पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना :—

योजना के नियम :—

1. जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि में लिखी गयी सृजनात्मक कृति पर "महावीर पुरस्कार" दिया जावेगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जावेगा।
2. पुरस्कार के लिए विषय, भाषा, आकार एवं अवधि का निर्णय जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जावेगा।
3. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनों प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की जा सकती हैं। यदि कृति प्रकाशित हो तो यह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिये।
4. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियां लेखक/प्रकाशक को संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
5. अप्रकाशित कृति की प्रतियां स्पष्ट टंकण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हों तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
6. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियों का मूल्यांकन दो या तीन विशिष्ट विद्वानों/निर्णायकों के द्वारा कराया जावेगा, जिनका मनोनयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। आवश्यक होने पर समिति अन्य विद्वानों की सम्मति भी ले सकती है। इन निर्णायकों/विद्वानों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन समिति द्वारा किया जावेगा। इस कृति को पुरस्कार के योग्य घोषित किया जावेगा।
7. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पाँच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रशस्तिपत्र के साथ प्रदान किया जावेगा। एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमें समानरूप से वितरित कर दी जावेगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जावेंगी।
9. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख साभार होना चाहिये।
10. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जावेगा।
11. उपर्युक्त नियमों में आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी समिति को होगा।

संयोजक कार्यालय :

एस. बी.-10, बापूनगर
जवाहरलाल नेहरू मार्ग,
जयपुर-302004.

डॉ० गोपीचन्द पाटनी

संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी

क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण साहित्य

1-5. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची—प्रथम एवं द्वितीय भाग—(अप्राप्य) तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भाग	
सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ	170.00
6. जैन ग्रंथ भंडारस इन राजस्थान—शोधप्रबन्ध—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	50.00
7. प्रशस्ति संग्रह—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	14.00
8. राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व लेखक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	20.00
9. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व लेखक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	20.00
10. जैन शोध और समीक्षा—लेखक—डॉ० प्रेमसागर जैन	20.00
11. जिणदत्त चरित—सम्पादक—डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ० कासलीवाल	12.00
12. प्रद्युम्नचरित—सम्पादक—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ एवं डॉ० कासलीवाल	12.00
13. हिन्दी पद संग्रह—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	10.00
14. सर्वार्थसिद्धिसार—सम्पादक—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ	10.00
15. चम्पा शतक—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल	6.00
16. तामिल भाषा का जैन साहित्य—सम्पादक—श्री भंवरलाल पोल्याका	1.00
17. वचनदूतम्—(पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)—लेखक—पं० मूलचन्द शास्त्री, प्रत्येक	10.00
18. तीर्थंकर वर्धमान महावीर—लेखक—पं० पदमचन्द शास्त्री	10.00
19. A Key to TRUE Happiness	(अप्राप्य)
20. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ	50.00
21. बाहुबलि (खण्डकाव्य)—पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ	10.00
22. योगानुशीलन—लेखक—श्री कैलाशचन्द्र बाहूदार, एम.ए., एलएल.बी.	75.00
23. चूनड़िया—मुनिश्री विनयचन्द्र, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका	1.00
24. आरांदा—श्री महानंदिदेव, अनु० डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री	5.00
25. वर्धमानचम्पू—पं० मूलचन्द्र शास्त्री	प्रेस में
26. गौमिसुर की जयमाल और पाण्डे की जयमाल—मुनि कनककीर्ति एवं कवि नण्डु, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका	2.00
27. समाधि—मुनि चरित्रमेन, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका	4.00

पुस्तक प्राप्तिस्थान

मन्त्री कार्यालय

निदेशक कार्यालय : जैनविद्या संस्थान

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर-3 (राज०)

श्रीमहावीरजी (जि० स० माधोपुर) राज०